शोध सरोवर पत्रिका

आरती, वषुतक्काटु, तिरुवनंतपुरम-695 014, केरल राज्य।

RNI No. KERHIN/2017/70008 ISSN No.2456-625 X

वर्ष 9 अंक 37

त्रैमासिक हिन्दी शोध पत्रिका 10 अप्रैल, 2026

पीयर रिव्यू समिति :

प्रो.(डॉ.) शांति नायर

प्रो (डॉ.) के श्रीलता

प्रो.(डॉ.) बी.अशोक

मुख्य संपादक
डॉ.पी.लता

प्रबंध संपादक
डॉ.एस.तंकमणि अम्मा

सह संपादक
प्रो.सती के
डॉ.एस.लीलाकुमारी अम्मा
श्रीमती वनजा पी

संपादक मंडल
डॉ.बिन्दु सी.आर
डॉ.षीना यू.एस
डॉ.सुमा आई
डॉ.एलिसबत जोर्ज
डॉ.लक्ष्मी एस.एस
डॉ.धन्या एल
डॉ.कमलानाथ एन.एम
डॉ.अश्वती जी.आर

सूचना: लेखकों द्वारा प्रकट किये गये मत उनके अपने हैं। उनसे संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं।

इस अंक में

संपादकीय

कुआनो नदी' में अभिव्यक्त सामयिक यथार्थ	: डॉ. एलिसबत जॉर्ज	5
गुलाब जहाँ भी हो, खुशबू देता है	: डॉ. महेश दवंगे	8
कुसुम अंसल के उपन्यासों में नारी जीवन की अस्मिता	: डॉ.षीबा शरत एस	13
'कस्बाई सिमोन' उपन्यास में सहजीवन	: डॉ.लक्ष्मी एस.एस	15
मंज़ूर एहतेशाम के कथा- साहित्य में सामाजिक चेतनाः मध्यवर्गीय युवा के विशेष संदर्भ में	: शमीम.पी	19
न्याय की दहलीज़ पर ज़िंदगी और 'महाभियोग' उपन्यास का यथार्थ	: डॉ.पंकज कुमार सिंह	24
डॉ. नगेन्द्र की आलोचना में प्रगतिशील मूल्य	: डॉ. सुशीला	27
आरंभिक खड़ी बोली का स्वरूप	: डॉ. मनीष ओझा	31
'पिंजर' उपन्यास में नारी अस्मिता और पारिस्थितिक नारीवाद	: राजविन्द्र कौर डॉ.पूजा धमीजा	36
दलित स्त्री जीवन का दस्तावेज़ 'जोहड़ी'	: प्रियंका	42
राज्य राजभाषा के रूप में हिन्दी	: डॉ. प्रदीप कुमार पाण्डेय	47

लेखकों से निवेदन

भाषा, साहित्य, समाज एवं संस्कृति पर लिखी गयी स्तरीय मैलिक तथा अप्रकाशित रचनाएँ भेजें। प्राकशनार्थ अनूदित रचनाओं के साथ मूल लेखकों से प्राप्त सहमति पत्र भी भेजें। रचनाएँ हिंदी यूनिकोड मंगल फॉन्ट में टंकित होनी चाहिए। लेख के प्रारंभ में लेख का सार अपेक्षित है जो अधिकतम 150 से 200 शब्दों के मध्य हो। सार में लेख लिखने का उद्देश्य अवश्य परिलक्षित होना चाहिए। आलेख के अनुरूप 5 से 7 'की वर्ड' (बीज शब्द) भी लिखें। लेख को यथोचित उपशीर्षकों में विभाजित करके लिखें। लेख के अंत में निष्कर्ष अवश्य दें। शब्द-सीमा 2500 से 3000 शब्दों की हो। आलेख के अंत में संदर्भ ग्रंथों की सूची ए.पी.ए. के प्रारूप में हो। लेख भेजते समय अपने नाम, पता, फोन नंबर एवं लेख का शीर्षक ई-मेल में अवश्य लिखें। इस आशय का एक घोषणा-पत्र प्रस्तुत कर दें कि लेख मौलिक है, अप्रकाशित है, भविष्य में इससे संबंधित किसी भी विवाद के लिए लेखक उत्तरदायी होंगे।

रचना के अंत में पूरा डाक पता, मोबाइल नंबर और ई-मेल पता अंकित करें। संक्षिप्त जीवन-परिचय और फोटो भी भेजें।

डॉ.पी.लता
संपादक
शोध सरोवर पत्रिका

मूल्य : एक प्रति रु.100/-
वार्षिक शुल्क रु.400/-

पत्रिका के संबंध में अधिक जानकारी केलिए संपर्क करें - डॉ.पी.लता (संपादक, शोध सरोवर पत्रिका; मंत्री, अखिल भारतीय हिन्दी अकादमी), आरती, टी.सी. 14/1592, फोरस्ट ऑफीस लेन, ई-28, वषुतक्काटु, तिरुवनन्तपुरम - 695 014, केरल राज्य।

फोन : 9946679280,9946253648

ई-मेल : akhilbharatheeyhindiacademy@gmail.com

संपादकीय

मलयालम सिनेमा के विलक्षण हस्ती(श्रीनि)

मलयालम सिनेमा के मशहूर अभिनेता, पटकथाकार, निर्देशक तथा निर्माता श्रीनिवासन (1950-2025) ने करीब 50 वर्षों के फिल्मी जीवन के दौरान (1977-2025 काल में) 225 से अधिक फिल्मों में काम किया। केरल राज्य के कण्णूर जिले के तलशेरी तालुक के कूत्तुपरम्पु ब्लोक के पाट्यं गाँव में 2 मई 1950 को आपका जन्म हुआ। पिता पाट्यं उण्णि अध्यापक थे। माता का नाम है लक्ष्मी। पिछले कुछ सालों से आप रोगग्रस्त रहे और फिल्म क्षेत्र के उनके परिवारवाले, सहकर्मी तथा श्रीनिवासन नामक अभिनेता के आराधक उनकी रोगमुक्ति की प्रार्थना में रहे थे कि 20 दिसंबर 2025 को वे स्वर्गस्थ हुए। उनके पार्थिव शरीर का अंतिम दर्शन करने को, श्रद्धांजलि अर्पित करने को फिल्मी, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों के कई व्यक्ति एरणाकुलम जिले के उनके घर 'पालाष्रि' में पहुँचे।

श्रीनिवासन जी को लोग 'श्रीनि' भी पुकारते थे। उनकी पत्नी श्रीमती विमला स्कूल में अध्यापिका थी। पिता जैसे ही दोनों बेटे विनीत श्रीनिवासन और ध्यान श्रीनिवासन- फिल्म क्षेत्र के हस्ती हैं। दोनों नट, निर्माता और निर्देशक हैं। विनीत श्रीनिवासन गायक भी हैं। बहुएँ हैं दिव्या और अर्पिता।

अपने 50 साल लंबे सिनेमा सेवा-कार्यों में आप 54 फिल्मों को पटकथाएँ लिखीं। कथाकार और फिल्म निर्देशक प्रियदर्शन ने श्रीनि को चेन्नै से तिरुवनंतपुरम में आमंत्रित किया। आमंत्रण स्वीकार कर तिरुवनंतपुरम में पहुँचे श्रीनि का विचार था कि सिनेमा में अभिनय करने को बुलाया गया है। श्रीनि ने उस सिनेमा की पटकथा माँगी तो प्रियदर्शन ने कागज़ और कलम देकर सिनेमा केलिए पटकथा लिखने को कहा। श्रीनि तो थोड़ी हिचक के साथ, किंतु तर्क किये बिना पटकथा लेखन शुरू किया। यूँ प्रियदर्शन की कथा को पटकथा और संवाद तैयार करने का अवसर उन्हें मिला। ऐसी लिखी श्रीनि की सर्वप्रथम पटकथा है केरल वासियों-मलयालम भाषा भाषियों- से मनसा स्वीकृत 'ओटरुतम्मावा आलरियाँ' सिनेमा की। इसमें एक प्रमुख नट का वेश भी श्रीनि को प्राप्त हुआ। यह 1984 की बात है। अनंतर वर्षों में उन्होंने 'मुत्तारंकुन्नु' (1985), 'अरं अरं किन्नरं' (1985), 'टी पी बालगोपालन एम ए' (1986) से लेकर कई पटकथाएँ लिखीं।

पी.ए.बेक्कर के संविधान में निकला 'मणिमुष्क्कम' (1976) अभिनेता के रूप में उनकी पहली फिल्म है। श्रीनि फिल्म इंस्टिट्यूट में डिप्लोमा केलिए पढ़ते वक्त वहाँ उपप्राचार्य (वाइस प्रिंसिपल) रहे ए. प्रभाकरन ने उन्हें प्रमुख रूप से अभिनय पढ़ाया था। फिर ए. प्रभाकरन जी ने अपने 'मेला' सिनेमा में उन्हें अभिनय करने का मौका भी दिया। 'गाँधीनगर सेकेंट स्ट्रीट', 'नाटोटिक्काट्टु', 'वटक्कुनोक्कि यंत्रं', 'चिंताविष्टयाय श्यामला', 'किलिच्चुण्टन माम्पष्रं', 'उदयनाणु तारं', 'कथपरयुम्पोल', 'अरबीक्कथा', 'आत्मकथा' जैसी अधिकांश फिल्मों में अपने अभिनय के द्वारा तथा व्यंग्यात्मक संवादों से जनसाधारण की समस्याओं को उन्होंने प्रस्तुत किया। इन फिल्मों में 'वटक्कुनोक्कि यंत्रं' और 'चिंताविष्टयाय श्यामला' के निर्देशिक भी खुद श्रीनिवासन थे। फिल्म के विविध क्षेत्रों में काम किए उनकी **प्रधान फिल्में** हैं-

टी पी बालगोपालन एम ए (1986, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
सन्मनस्सुल्लवर्क्कु समाधनं (1986, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
गान्धी नगर सेकेंट स्ट्रीट (1986, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
नाटोटिक्काट्टु (1987, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
वेल्लानकलुटे नाटु (1988, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
पट्टणप्रवेशं (1988, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
मुकुंदेट्टा सुमित्रा विलिक्कुन्नु (1988, कथा लेखन, पटकथा लेखन)

चित्रं (1988, अभिनय)
वरवेल्पु (1989, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
वटक्कुनोक्कि यंत्रं (1989, निर्देशन)
आनवाल मोतिरं (1990, अभिनय)
तलयणमंत्रं (1990, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
अक्करे अक्करे अक्करे (1990, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
सन्देशं (1991, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
मिथुनं (1993, अभिनय)
मष़येत्तुम मुम्पे (1995, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
कालापानी (1996, अभिनय)
अष़किया रावणन (1996, कथा लेखन, पटकथा लेखन)
चिंताविष्टयाय श्यामला (1998, अभिनय, निदेशन)
अयाल कथयेष़ुतुकयाणु (1998, पटकथा)
मेघं (1999, अभिनय)
Zameer – The Fire within (2005, हिंदी, कथा लेखन, पटकखा लेखन)
उदयनाणु तारं (2005, अभिनय)
वेल्लित्तिरा (2007, तमिल, कथा लेखन)
अरबिकक्था (2007, अभिनय)
कथा परयुम्पोल (2007, कथा लेखन, पटकथा लेखन, संवाद, नायक वेश)
कुसेलन (2008, तमिल, कथा लेखन)
बिल्लु बारबर (2008, हिन्दी, कथा लेखन)
पच्चमरत्तणलिल (2008, अभिनय)
आत्मकथा (2010, अभिनय)
कुट्टिमामा (2019, अभिनय) आदि।

शुरू से 1986 तक मात्र अभिनय किये फिल्में हैं-

मणिमुष़क्कम (1978), मण्णु (1978), जयिक्कानाय जनिच्चवन (1978), मण्णु (1978), इनि अवल उरङ्ङट्टे (1978), संघगानम् (1979), ओट्टप्पेट्टवर (1979), शिखरङ्ङल (1979), रागं तानं पल्लवि (1980), विल्क्कानुण्ट स्पनङ्ङल (1980), मेला (1980), अहिंसा (1981), मनसिन्टे तीर्थयात्रा (1981), इलनीर (1981), कोलङ्ङल (1981), चिरियो चिरि (1982), ईनाटु (1982), काट्टिले पाट्टु (1982), कण्मणिक्कोरुम्मा (1982), यवनिका (1982), कूली (1983), मनस्सोस महासमुद्र (1983), इनियेंकिलुं (1983), प्रेमनसीरिने काण्मानिल्ला (1983), लेखयुटे मरणं ओरु फ्लाशबाक (1983), ओरु स्वकार्यं (1983), अस्ति (1983), पंचवटिप्पालं (1984), पूच्चक्कोरु मूक्कुति (1984), वेट्टा (1984), अक्करे (1984), ओटरुतम्मावा आलरियां (1984), पुन्नारं चोल्लि चोल्लि (1985), अक्करे निन्नोरु मारन (1985), मुत्तारं कुन्नु पी ओ (1985), अरं + अरं = किन्नरं (1985), ओन्नानां कुन्निल ओरटि कुन्निल (1985), सुरभी यामङ्ङल (1986), गाँधीनगर सेकेंट स्ट्रीट, निन्निष्टं एन्निष्टं (1986), हेलो मै डियर रोङ नंबर (1986), अयलवासी ओरु दरिद्रवासी (1986), ओरिटत्तु (1986), ओरु कथा ओरु नुणक्कथा (1986), चिदंबरं (1986), मष़ पेय्युन्नु मद्दलं कोट्टुन्नु (1986), आवनाष़ी (1986), सन्मनसुल्लवर्क्कु समाधानं (1986), धीं तरकिट तों (1986), कोच्चु तेम्माटि (1986) आदि।

फिल्म क्षेत्र में श्रीनिवासन जी को प्राप्त पुरस्कार हैं-

<u>राष्ट्रीय पुरस्कारः</u>

सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय फिल्म के लिए 1999 में।

<u>राज्य स्तरीय पुरस्कार:</u>

केरल राज्य फिल्म पुरस्कार (1986, 1995, 1999, 2007)
स्पेशल जूरी पुरस्कार (1988)
दूसरे अच्छे फिल्म निर्माता पुरस्कार (1991, 1995)।

<u>फिल्म फेयर पुरस्कार:</u>

अच्छा अभिनेता (1986, 1988, 1993, 1995, 1999, 2007)
स्पेशल जूरी पुरस्कार (2009)

अन्य पुरस्कारः-

कथालेखन – 'संदेश' फिल्म (1991)

पटकथा लेखन – मष़येत्तुं मुन्पे (1995)

जनप्रिय फिल्म – चिंताविष्टयाय श्यामला (1998)

अच्छी फिल्म – वटक्कुनोक्कि यंत्रं (1989)

स्पेशल जूरी पुरस्कार – तकरच्चेण्टा (2006)

श्रीनिवासन जी ने मनुष्य और मिट्टी की कथा व्यंग्यात्मक भाषा में, आकर्षक शैली में अपनी कथाओं, पटकथाओं और अभिनय के द्वारा सिनेमा दर्शकों से

कही है।

उनकी इच्छा के अनुसार एरणाकुलम में अपनी कृषि भूमि के मध्य निर्मित अपने 'पालाप्पी' घर की मिट्टी में ही केरल सरकार के गार्ड ऑफ ऑनर के साथ उनके पार्थिव शरीर का संस्कार किया। मलयालम सिनेमा क्षेत्र के प्रायः सभी व्यक्ति तथा सामाजिक- राजनीतिक क्षेत्रों के कई प्रमुख व्यक्ति उनका अंतिम दर्शन करने के लिए वहाँ पहुँचे थे। तमिल के मुख्य नट सूर्या और पार्थिब ने भी श्रद्धांजलि अर्पित की।

श्रीनिवासन जी कर्षकों को उत्तम नमूना रहे। उन्होंने कृषि को रोज़ी-रोटी के माध्यम के रूप में नहीं, एक संस्कार के रूप में देखा। 'सदा सबको भलाई मात्र हो जाएँ' श्रीनिवासन जी के भौतिक शरीर की छाती में उनके प्रिय मित्र तथा फिल्म निर्देशक सत्यन अन्तिक्काटु द्वारा रखे परचे में ऐसा लिखा था। उसके ऊपर श्रीनिवासन जी की कलम भी रखी थी। ये दोनों चीज़ें उनके शरीर के साथ भस्मसात हुईं। यह सिनेमा में श्रीनि की कथाओं, पटकथाओं और संवादों जैसी ही सहजता से दर्शकों की आँखें भर देनेवाला नाटकीय परिणाम था।

मलयालम की जनप्रिय फिल्म 'नाटोटिक्काटु' के दो प्रमुख कथापात्र हैं विजय (विजयन) और दास (दासन)। श्रीनिवासन ने विजयन की भूमिका में तथा मोहनलाल ने दासन की भूमिका में बड़े प्रभावी अभिनय प्रस्तुत किए। इसमें एक संदर्भ में विजय, दासन से कहता है - 'एल्लात्तिनुं अतिन्टेताय समयमुण्डु दासा' (अर्थात् दास, हर एक कार्य का अपना समय होता है।) हर एक फिल्म दर्शक ने श्रीनि के विविध कथापात्रों में अपने को, अपने दुखों और कठिनाइयों को देखा, महसूस किया। बेरोज़गारी युवाओं के मोहभंगों मध्यवर्गों के स्पनों और स्पनभंगों का जैसा का जैसा चित्रण श्रीनि का जैसा और कोई फिल्मकार चित्रित नहीं कर सकता। केरलीयों के प्रिय तथा फिल्म क्षेत्र के हस्ती स्वर्गीय श्रीनिवासनजी सामाजिक, राजनीतिक विषयों को अपनी फिल्मों में बड़ी सहजता से व्यंग्यात्मक शैली में प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त थे।

श्रीनिवासन की यादें जन हृदय में अमर रहेंगी। अखिल भारतीय अकादमी उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करती है।

◆डॉ.पी.लता

संपादक, शोध सरोवर पत्रिका

(मंत्री, अखिल भारतीय हिन्दी अकादमी)।

'कुआनो नदी' में अभिव्यक्त सामयिक यथार्थ

◆ डॉ. एलिसबत जॉर्ज

शोध सार : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की रचनाएँ देश के राजनीतिक सामाजिक यथार्थ को प्रतिबिंबित करती हैं। अपनी लंबी कविता 'कुआनो नदी' में उन्होंने आम जनता के जीवन-संघर्ष के साथ अवसरवादी राजनीति एवं प्रजातंत्र की निष्क्रियता को रेखांकित किया है।

बीज शब्द : ग्रामीण चेतना, अवसरवादी राजनीति, प्रजातंत्र की निष्क्रियता, जनक्रांति।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना हिन्दी काव्य जगत के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनकी कविताएँ समकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक यथार्थ को प्रतिबिंबित करती हैं। देश की विसंगतियाँ तथा आम आदमी की विषमताएँ उनकी कविताओं के केंद्रीय विषय रहे हैं। युगीन परिस्थितियों से असंतुष्ट होकर उन्होंने प्रतिरोध का स्वर बुलंद किया। उनकी कविताएँ भारतीय समाज में व्याप्त गरीबी, असमानता, भ्रष्टाचार, अन्याय, अनैतिकता एवं शोषण के खिलाफ प्रतिरोध खड़ा कर देती हैं।

लोक धर्मी कवि सर्वेश्वर के काव्य में लोक जीवन की धारा स्पष्टत: दृष्टिगोचर होती है। अपने

गाँव और वहाँ के लोक जीवन के प्रति उनके मन में लगाव रहा है। उनके साहित्य में वही देहाती वातावरण अपनी समस्त विशेषताओं और संवेदनाओं के साथ अभिव्यक्त हुआ है। आम जनता के सुख-दुख, आशा-निराशा, गरीबी, ग्रामीण जीवन और संस्कृति- सब उनमें अभिव्यक्ति पाती है। सर्वेश्वर जी के काव्य भावात्मक सौंदर्य से अलग हटकर विचारों की ठोस भूमि पर अपनी अर्थवत्ता खोज निकालते हैं।

स्वतंत्र भारत की सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों तथा समसामयिक जीवन-सन्दर्भों को उन्होंने अपनी लंबी कविता 'कुआनो नदी' में बड़ी जीवन्तता के साथ प्रस्तुत किया है। तीन कविताओं की शृंखला में आकलित कविताएँ हैं -कुआनो नदी, कुआनो नदी के पार, कुआनो नदी: खतरे का निशान। 'इन तीन कविताओं के माध्यम से सर्वेश्वर जी ने एक ऐसा प्रतीक हिन्दी कविता को दिया है जिसका अर्थवृत्त समय के साथ फैलता रहा है।'[1] इनमें मामूली आदमी की विषमता और उसके जीवन-संघर्ष को शब्द दिये गये हैं। सपाट, शांत गति से बहती संकरी नीली नदी भारतीय ग्रामीण चेतना का प्रतीक है जिसमें सब कुछ सहन करने पर भी विद्रोह की शक्ति नहीं होती। कवि इस जड़वत् चेतना के स्थान पर जन क्रांति का स्वर बुलंद करना चाहते हैं। नदी के साथ जनता के सुख-दुख, आशा-निराशा भी जुड़ी हुई हैं। नदी सांस्कृतिक चेतना की वाहिका है। नदी में जब बाढ़ आती है तो वह विद्रोह और क्रांति का प्रतीक बन जाती है, जिसमें सबकुछ नष्ट कर देने की शक्ति निहित होती है। आज़ादी के पहले आम आदमी का जीवन जिस तरह था आज़ादी के बाद भी उसमें ज़्यादा कुछ बदलाव नहीं आया। गरीबी, असुरक्षा, आतंक की स्थिति वैसे ही बनी हुई है। इसके खिलाफ विद्रोह के आह्वान के बजाय आज के बुद्धिजीवी वर्ग पलायनवृत्ति को अपनाया हुआ है।

'कुआनो नदी' में गांव का यथार्थ चित्र उभरकर सामने आता है । सर्वेश्वर जी का बचपन उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के इस गांव में बीता था जहाँ बहती है कुआनो । 'कुआनो नदी' का मतलब 'कुएं से निकली' नदी। कुआ, जो अपनी जगह पर स्थिर रहता है, आगे नहीं बढ़ता। वैसे ही गाँव और वहाँ के जीवन में, आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी कोई विकास नहीं आया है। कवि गाँव की आम जनता के सुख-दुख से भली भाँति परिचित हैं। देश की वर्तमान आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों से अछूती इस नदी के किनारे बसी जनता की जीवन-स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है। जैसे नदी पाट नहीं बदलती वैसे बदलाव- हीन जड़ता गाँव को भी ग्रसित है। नदी का, शहर से कोई संबंध नहीं है। लेकिन पूरे शहर की गंदगी वहीं साफ करने आता है धोबी। कूड़े-कचरे-कीचड़ से नदी भरी पड़ी है। चोरी, बदमाशी, आवारागर्दी, वेश्यावृत्ति, हत्याएँ सब अंधेरे में होती रहती हैं। अधजली चिताएँ कुआनो नदी और उस गांव की जीर्ण अवस्था की सूचक हैं। इन सबके बीच कुआनो निर्लिप्त भाव से बहती रहती है।

"और नदी हर दिल में उसी रफ्तार से शांत
हर विवशता का उपहास सा करती।"[2]

गाँव की जर्जरता एवं विपन्नता को व्यक्त करने वाले अनेक बिंब कविता में प्रस्तुत किये गये हैं। कवि को दिल्ली की सड़कें कुआनो नदी की याद दिलाती हैं। आम जनता की स्थिति महानगर में भी वैसी ही है। सामाजिक असमानता एवं गरीबी को दूर कर देश को प्रगति के पथ पर ले जाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध सत्ताधारी वर्ग स्वार्थ-पूर्ति में व्यस्त हैं। आज़ादी के बाद सत्य पर स्वार्थपरता हावी हो गयी। 'सत्यमेव जयते' के बदले आज 'सब चलता है' का नारा प्रबल है। जीर्ण व्यवस्था के प्रति जिन्हें आवाज़ उठानी चाहिए थी वे मौन धारण किये हुए हैं। आज़ादी के 20-25 वर्षों बाद भी देश की प्रगति अवरुद्ध है। 'मौन रहो, प्रतीक्षा करो' लोकतंत्र का यह मंत्र गरीब आम जनता को धोखे में रखता है। वर्तमान युग की सामाजिक, राजनीतिक विडंबनाओं पर कवि तीखा प्रहार करते हैं। राजनेता सब कुछ

देखते हुए भी, जानते हुए भी अनजान बने हुए हैं। अवसरवादी जीवन-दृष्टि ने बुद्धिजीवी वर्ग को शब्दहीन बना दिया है। कवि प्रबुद्ध समाज के सामने सवाल उठाना चाहते हैं। वे पूछते हैं-

"क्यों हर हाथ टूटा है ?

क्यों हर पैर कटा हुआ है ?

क्यों हर चेहरा मोम का है ?

क्यों हर दिमाग कूड़े से पटा हुआ है?

क्यों यहाँ कोई जिंदा नहीं है? "[3]

अंग्रेज़ शासन के दौरान हम आज़ादी और सुखमय जीवन की प्रतीक्षा में रहे। आज़ादी के बाद सारी प्रतीक्षाओं के अर्थ जैसे खो गये। अवसरवादी राजनीति ने देश को बर्बाद कर दिया। पूरा देश गरीबी, भुखमरी, बेकारी और अराजकता से पीड़ित है। सत्ता की होड़ में, पैसा कमाने की दौड़ में आदमी आज संवेदनशून्य होता जा रहा है। आम आदमी की फरियादें अनसुनी कर दी जाती हैं। कवि इनके प्रति अपनी आकुलता व्यक्त करते हैं।

"मैं भागता हूँ और पूछता हूँ

क्यों हम आदमी को

आदमी की तरह नहीं देख पाते ?

क्यों ये सब फ़ाइलों में मरे पड़े है?"[4]

लाठी और गोली सहकर, खून और पसीना देकर लोकतंत्र को खड़ा किया था। जिनके सहारे नदी पार कर सका है वे जीने के अधिकार से वंचित हो गए हैं। आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी मौन रहकर प्रतीक्षा करने का आदेश दिया जा रहा है। कवि के विचार में अब इस दमन नीति के विरुद्ध क्रांति करने का समय आ गया है। पराधीनता और शोषण को और नहीं सहना। सहनशीलता की सीख देने वाली प्रतिक्रियावादी परम्परा ने विद्रोह की भावना को दबाया रखा है। अपने अधिकारों से वंचित किसान, मज़दूर, दलित, स्त्री, हाशियेकृत सभी के पक्ष में लड़ने का समय हो गया है। देश की वर्तमान स्थिति के प्रति कवि बेचैन हैं।

"क्या आधी ज़िन्दगी

मैं ने यहीं पहुँचने के लिए सिर्फ की है ?

मैं सोचता हूँ और भागता हूँ " [5]

वे यह समझना चाहते हैं कि राजनेता, साहित्यकार, बुद्धिजीवी वर्गों के रगों में खून क्यों नहीं दौड़ता ?

"कुआनो नदी उतनी ही उथली

नाव उतनी ही छोटी कीचड़ में फंसी हुई,

मुर्दे उतने ही बेशुमार

कहां हो, ओ क्रांति के सूत्रधार !" [6]

हजारों वर्षों की दमित परम्परा ने

कीचड़ बनकर प्रगति की नाव को जकड़ रखा है। नदी के पार भी कुछ नहीं है सिवाय लाशों के। स्वतंत्र भारत में किसान आत्महत्या कर रहे हैं, बेरोज़गार युवा पीढ़ी बंदूकें उठा रही है, क्रांतिकार पुलिस की गोलियों का शिकार हो रहे हैं, दलित जिंदा जला दिया जा रहा है,श्रमिक रोटी मकान के इंतज़ार में मर मिटता है।

"मैं भागता हूँ और देखता हूँ:

यह खेतिहर मजदूर भूख से मर गया,

यह चौपाये के साथ बाढ़ में बह गया,

यह सरकारी बाग की रखवाली करता था

लू में टपक गया ।"[7]

'कुआनो नदी खतरे के निशान' में जनक्रांति का स्वर मुखरित होता है। संकरी नीली नदी बाढ़ में अक्षितिज फैलता मटियाला प्रवाह बन जाता है। बाढ़ की भयावह स्थिति में लड़खड़ाते सरकारी तंत्र और आम आदमी की जिजीविषा इसमें चित्रित हुआ है। जनक्रांति में सरकार को हिला देने की शक्ति होती है। व्यवस्था के विरोध में कई बार क्रान्ति भावना तो जाग उठी थी। पर वह जन क्रांति में न बदल सकी। हर बार क्रांति चेतना पछाड़ खाकर शांत हो गई।

"इस नदी में

न जाने कितनी बार बाढ़ आयी है

रगों में खून खौला है
पर हर बार अंगीठियों से तमतमाए चहरों पर
रोटियां ही सेंकी गयी।" [8]

पुराने संस्कारों के प्रति मोह बदलाव को रोकता रहा। सत्ता पुराने संस्कारों को जनता के बीच बचाए रखना चाहता है। क्रांति की पुकार सुनकर भी संस्कारगत मन विद्रोह नहीं कर पाता। आम आदमी के पास बहुमूल्य कुछ भी नहीं है। नेताओं के खोखले वादों में उनकी प्रतीक्षा है। शोषण और दमन के प्रति सतर्क बन प्रतिरोध का रास्ता अपनाने से ही देश की प्रगति सम्भव होगी।

सर्वेश्वर जी ने नदी के माध्यम से स्वतंत्र भारत के सामाजिक राजनीतिक यथार्थ को रेखांकित किया। नदी एक समाज की जीर्ण अवस्था, जीवन संघर्ष, जिजीविषा और जनक्रांति की संभावना का प्रतीक बन जाती है।

सन्दर्भ :

1. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना-कुआनो नदी-ज़िल्द - राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली, 1993।
2. वही, पृ- 20
3. वही, पृ- 28
4. वही, पृ- 28
5. वही, पृ- 25
6. वही, पृ- 29
7. वही, पृ- 24
8. वही, पृ- 34

◆सहायक आचार्य,
सरकारी महिला महाविद्यालय,
तिरुवनंतपुरम, केरल।
फोन- 9495606105

गुलाब जहाँ भी हो, खुशबू देता है

◆डॉ. महेश दवंगे

"एक दिन वह जागेगी और पायताने से
उठकर जा चुका होगा ईश्वर
एक दिन वह जागेगी और सूख चुकी होगी आँख
उतर चुका होगा खुरंट
थम गई होगी पीड़ा"।

गगन गिल की ये पंक्तियाँ औरत की चेतना को अभिव्यक्त करती हैं। औरत हमेशा ही पुरुषवादी समाज की दोगली मानसिकता से प्रताड़ित रही है। आधुनिक समय में भले ही शिक्षा एवं आर्थिक सक्षमता ने औरत को निड़र बनाया है, फ़िर भी उसकी पीड़ा कम नहीं हुई है। लेकिन साहस के साथ वह उन स्थितियों से मुठभेड़ कर रही है। औरत के इसी संघर्षपूर्ण जीवन को कई रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। हिंदी साहित्य के महत्वपूर्ण कथाकार शैलेश मटियानी जी ने भी अपनी रचनाओं के माध्यम से औरत के हक़ और अधिकार की बात कही है। समाज के अलग-अलग क्षेत्रों में कार्यरत औरत के जीवन को पूरी ईमानदारी से उन्होंने अभिव्यक्त किया है। वेश्या जीवन पर आधारित उनकी कहानियाँ एवं उपन्यास औरत की दर्दभरी पीड़ा को बयान करती है। 'बावन नदियों का संगम' उपन्यास वेश्या जीवन के संघर्ष को करीब से समझने केलिए महत्वपूर्ण है। दरअसल जिस समाज में औरत को अपना शरीर बेचकर गुज़ारा करना पड़ता है, उस समाज को अपनी सामाजिक नीतियों के बारे में सोचना चाहिए। भारतीय समाज में औरत को शक्ति का प्रतीक माना जाता है। किंतु इसी समाज में औरत पर अनगिनत अत्याचार भी किए जाते हैं। वर्त्तमान समय भी इस स्थिति केलिए अपवाद नहीं है।

शैलेश मटियानी जी हिंदी साहित्य जगत के चर्चित कथाकार हैं। उनकी कथा-कहानियों में आम जन की पीड़ा को अभिव्यक्ति मिली है। उनका संपूर्ण साहित्य यथार्थ जीवन से ओतप्रोत है। उन्होंने अपने जीवन में जो अनुभव किया, उसकी प्रामाणिक अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में की है। उनका जीवन भी संघर्षपूर्ण रहा है। गुज़ारा करने केलिए कभी कैंटीन में बर्तन मांजने तक का काम उन्होंने किया है। कभी

मुंबई की फुटपाथों को अपना आशियाना बनाया है, तो कभी भिखारियों की संगत में रहकर या रेल्वे स्टेशन के फ्रूट स्थलों के कचरे के डिब्बों से जूठे फल खाकर गुज़ारा किया है। साथ ही क्षुधा शांत करने केलिए जानबूझकर पुलिस चौकी में भी जीवन व्यतीत किया है। इसी संघर्ष की आंच में तपकर ही उनका साहित्य समृद्ध हुआ है। हिंदी कथासाहित्य में प्रेमचंद के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहानियाँ देनेवाले कथाकार के रूप में वे जाने जाते हैं। बाबा नागार्जुन ने उनके संदर्भ में कहा था, 'वे हिंदी के गोर्की थे, जिन्हें ठीक से समझा नहीं गया'। शैलेश मटियानी जी हिंदी साहित्य जगत में अलक्षित कथाकार रहे हैं, किंतु उनकी रचनाएँ पाठकों के भीतर हमेशा जीवित रही हैं। इसकी एक महत्वपूर्ण वजह है, साहित्य के प्रति उनकी इमानदारी। उन्होंने अपने जीवन-संघर्ष के दौरान निम्न धरातल के जिस जीवन को करीब से महसूस किया था, उसको उसी यथार्थ से उन्होंने अभिव्यक्त किया है। वेश्या जीवन की समस्याओं से उनका साक्षात्कार इसी समय हुआ था। इस दौरान औरत की ज़िंदगी का बड़ा ही घिनौना पक्ष उनके सम्मुख मुखर हुआ। वेश्या बनकर जीनेवाली औरतों की यथास्थिति जानकर उनके भीतर का लेखक बेचैन हुआ। इन औरतों के सुख-दुःख, संघर्ष, भीतरी राजनीति, समाज की दोगली मानसिकता आदि का बड़ा ही मर्मांतक वर्णन उनकी रचनाओं में भरा पड़ा है। 'बावन नदियों का संगम' यह उपन्यास भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

दरअसल भारतीय संविधान ने सभी को मूलभूत अधिकार प्रदान किए हैं। किंतु कई बार इन अधिकारों का हनन करते हुए व्यक्ति को गुलाम की तरह जीने केलिए बाध्य किया जाता है। पुरुषप्रधान समाज में तो स्त्री को चारदीवारी में कैद करके रखा जाता है। स्त्री चाहे पढ़ी-लिखी हो, आज भी पारिवारिक या सामाजिक निर्णय में उसके मत को तरजीह नहीं दी जाती। कई बार औरत के सम्मुख ऐसी हालात पैदा की जाती है, जिससे उसे मज़बूरन अपना शरीर बेचकर गुज़ारा करना पड़ता है। उसे बहला-फुसलाकर भी इन दीवारों के बीच कैद किया जाता है। साथ ही कम उम्र की लड़कियों को इस कोठे पर लाकर बेचा जाता है। यह वह जगह है, जहाँ औरत की ज़िंदगी जहन्नुम बन जाती है। यहाँ से बाहर निकलने के सारे रास्ते हमेशा केलिए बंद हो जाते हैं। ग़लती से कोई औरत दहलीज़ लाँघने में सफ़ल भी हो जाए, लेकिन उस औरत को परिवार या समाज द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता है। उनके लिए घर के दरवाज़े हमेशा केलिए बंद हो जाते हैं। मज़बूरन उसे दोबारा उसी दहलीज़ के भीतर लौटना पड़ता है। वह आजीवन उसी ग़लती का दंड भुगतती है, जो ग़लती उससे की नहीं होती है। इससे हमारे समाज की मानसिकता का पता चलता है। हमारे समाज में औरत की क्या कीमत है, यह इस कोठे या मोहल्ले में बसी औरतों की आप बीती जानकर समझ में आ सकती है। इनमें से अधिकतम औरतें अपने ही लोगों द्वारा दिए धोखे से ही यहाँ पहुँच जाती हैं। इस संख्या में दिनों-दिन इज़ाफ़ा ही हो रहा है। जैसे, "आज देश में 23 लाख 85 हज़ार वेश्याएँ हैं या उनको बसानेवाले 1100 रेड लाइट मोहल्ले हैं या व्यवसाय चलानेवाले तीन लाख कोठे हैं...और न जाने कितने अदृश्य पिताओं के कारण जन्मे हुए पिता का नाम नहीं पा सकनेवाले 52 लाख बच्चे हैं"[1]। यह आँकड़े चौंकानेवाले और सोचने केलिए बाध्य करनेवाले हैं। यह हमारी मानवीयता और नैतिकता को तार-तार करने वाली स्थिति है, किंतु बुराई मिटाने से भी नहीं मिटती। समाज भले ही इन औरतों को नज़रंदाज़ करें, ये औंरतें एक-दूजे केलिए सहयोग करते हुए जीती हैं। यह उपन्यास उस भीतरी गली की यात्रा है, जिसे जानने केलिए समाज उत्सुक नहीं होता है। उसकी यात्रा तो महज स्त्री के शरीर तक आकर ही रुक जाती है।

'बावन नदियों का संगम' यह उपन्यास इलाहाबाद की गलियारों से शुरू होता है। इनमें से एक जगह है, सितारटोला। यह एक रेड लाइट मोहल्ला है। यहाँ की हर औरत अपनी जाति और परिवार के जुड़ाव से मुक्त है। उसकी एक ही पहचान है कि वह औरत है। जैसे नदियाँ बहते हुए समंदर में जाकर मिलती हैं, वैसे यहाँ बसनेवाली औरतें अलग-अलग जगह से आई हैं. जैसे, यह भी नदियों का संगम स्थल है। बावन नदियों का संगम स्थल। यहाँ गोरखपुर, गाजीपुर, बनारस, आगरा, अलीगढ़, मेरठ, बुलंदशहर, इलाहाबाद, मिर्जापुर, फ़तेहपुर, नागपुर, कानपूर, उन्नाव, लखनऊ, बाराबंकी, बरेली समेत

यू.पी. के बावन जिलों से आई हुई औरतें हैं और यही अब इनका स्थायी स्थल है। इस मोहल्ले में रात के समय चकाचौंध होती है। सभ्य समाज के कई सभ्य चेहरे रात के अँधेरे में यहाँ पाए जाते हैं। राजनीति, सामाजिक क्षेत्र, कानून, प्रशासन, पुलिस प्रशासन आदि क्षेत्रों में काम करनेवाले कई नाम यहाँ के गलियारों में मिल जाते हैं। अपना शरीर बेचकर पैसे कमानेवाली औरतों से अलग-अलग दाँवपेंच लगाकर पैसे हथियानेवालों की यहाँ कमी नहीं है। इन सबसे मुठभेड़ करते हुए तथा अपनी लड़कियों के अस्तित्व को सहेजते हुए आगे बढ़ती है, गुलाब बाई। इस गली में ऐसा नाम जिसे चाहनेवाले और इर्ष्या, द्वेष करनेवाले भी उसकी मानवीयता के आगे सिर झुकाते हैं। उसका यौवन उतर चुका है। ज़िंदगी ढलान पर है और इसी ज़िंदगी ने न जाने कितने उतार-चढ़ाव दिखाए, जिसने गुलाब बाई को भीतर से मज़बूत बनाया है।

गुलाब बाई हमेशा ही अपने इलाके की औरतों के भविष्य के बारे में सोचती है। चाहे कितने भी संकट आए, वह डटकर उसका मुकाबला करती है और यह मोहल्ला ऐसा है, जहाँ हमेशा ही लालची नज़रें लगी रहती है। इसी का परिणाम है कि यहाँ हरदम पुलिस की रेड पड़ती रहती है। इस बार एस.एस.पी.साहब कृत संकल्प है कि इस बदनाम बस्ती को हटाना ही है। कुछ नागरिकों ने शिकायत दर्ज की है कि इस बस्ती की वजह से बच्चों पर बुरा असर पड़ रहा है। अब इस बस्ती को उजाड़ने से बचने केलिए गुलाब बाई नेता रामविलास, जैसवाल वकील साहब के पास पहुँचती है। इस बस्ती को हटाने की माँग अरसे से है। मगर बड़ी राजनैतिक हस्तियाँ और ताकतवर लोगों के कारण यह बरक़रार है। लेकिन इस बार लग रहा है कि इसे उजड़ने से बचाना मुश्किल है। अर्थात् जितनी मुश्किल अधिक उतनी ही करनी होगी पैसों की बरसात। अब इस बार केवल कचहरी में नहीं तो जनता की अदालत में भी जाने की बात हुई। जुलूस निकालकर अपने हक़ और अधिकार की बात करना आवश्यक है, ऐसा तय किया गया। लेकिन जुलूस वाली बात गुलाब बाई को जँची नहीं। उसे हमेशा लगता है, सरकार इन औरतों को जीने का अवसर दें, कुछ सुविधा दे तो वे स्वयं इसे बंदकर बेहतर ज़िंदगी जीना पसंद करेगी। मगर फ़िलहाल कोई रास्ता भी नहीं है। सामाजिक कार्यकर्ता पदारथ भाई ने 'सितारटोला गायिका नर्तकी संघ' नाम देकर यह सिद्ध किया कि यहाँ जिस्म फ़रोशी का नहीं, नृत्य कला का प्रदर्शन किया जाता है। जुलूसवाले दिन तो कोठे की इन औरतों को देखने केलिए भीड़ ही जुटती है। गुलाब बाई कहती है, "उधर की गलियों में आते हैं लोग तो मुंडी दबाएँ रहते हैं। खुले में सीना फैला जा रहा है! हिकारत और तमाशबीनी के सिवाय किसी में कुछ नहीं। इसी खातिर हम उस दिन जुलूस-फुलूसवाली बातों को बचाना चाहती थी कि रंडियों का जुलूस देखने निकले लोग कुत्तों की तरे भूँकने लगेंगे। मगर नेता अपनी ही हाँके चला गया और चंदा बाई-शैनाज बाई हाँ में हाँ मिलाती गई। इन नवाबजादियों को तो ख़ुद न आना था। नेताओं की कमी हम रंडियों में भी नहीं।"[2] गुलाब बाई को अपनी लड़कियों के साथ इस तरह तमाशबीन बनना अच्छा नहीं लगा था। पर वह जानती थी यह गिद्ध लोगों का उनको नोचने का षड्यंत्र है। जानकर भी अनजान रहने के सिवाय कोई रास्ता नहीं है। अपने शरीर को बेचकर जुटाई गई एक-एक पाई में सबकी हिस्सेदारी होती है। बस उसे निकालने के रास्ते अलग-अलग होते हैं. जैसे, "शहर के बीचोबीच चलनेवाले चकलाघर के सूत्र संचालक हमेशा पर्दों के पीछे रहते हैं। वकील, डॉक्टर, नेता, व्यापारी और गुंडों का एक पूरा ग्रुप है, जो इसे सार्वजनिक जुआघर की तरह चलाता है, जहाँ दाँव पर नोटों की गड्डियों की जगह औरतों की अस्मत रहती है। इस बदनाम बस्ती पर पड़नेवाले छापे भी सुनियोजित होते हैं, और तालाबंदी खुलवाने के हथकंडे भी। कला का जुलूस भी इसी सनातन नाटक का एक अंश था। नारों और झंडों के साथ निकाली गई पद यात्राओं और जोशीले क्रांतिकारी भाषणों का यह सारा सिलसिला सिर्फ़ एक धोखाधड़ी है। गरीब वेश्याओं की आँखों में धूल झोंकने का यह एक षड्यंत्र है और औरतों द्वारा अस्मत फ़रोशी करके कमाए गए धन में अपना-अपना हिस्सा वसूलनेवालों में शहर के बड़े बड़े नमी हरामखोर हैं। यौन बिमारियों और ताकत की गोलियों के नाम पर रोजगार चलानेवाले डॉक्टर, मुकदमेबाज और सुप्रीम कोर्ट तक रिटे दायर

करने के नाम पर वेश्याओं से सामान्य से कई गुना फ़ीस वसूलनेवाले वकील, सुरक्षा के नाम पर चौथ वसूलनेवाले पेशेवर दादा, कालाबाजार की कमाई से खेलनेवाले बनिए और उनके पैसों पर राजनीति करनेवाले नेता, पुलिस अफ़सरों- प्रशासनिक अधिकारियों तक एक पूरा तंत्र है, जो ख़ुद ही इस चकलाघर को हटाने का नाटक करता है और ख़ुद ही इसके चलाए जाते रहने का इंतजाम करता है।"[3] यह वेश्या जीवन की त्रासदी भरी सच्चाई है। अपनों से प्रताड़ित नरकनुमा यातनाओं में जीनेवाली औरतों के दुःख का कोई अंत नहीं है। समाज के नामी लोगों को पैसे देकर ही यह मोहल्ला सुरक्षित रहता है। वैसे, यह कहने केलिए ही सुरक्षित है, इन औरतों का शोषण तो इन लोगों द्वारा ही सर्वाधिक किया जाता है। इनकी बातें न मानने पर गुंडों द्वारा इन्हें धमकाया जाता है, मारा जाता है। जैसे, उपन्यास की पात्र श्यामा जो एक साल की बच्ची की माँ है, उसे राजनैतिक गुंडों द्वारा इसीलिए मारा जाता है, क्योंकि वह उनकी इच्छा उनके मुताबिक पूरी नहीं करती है। ये इन औरतों के जीवन की भयावह सच्चाई है। यह औरतें अनाथों की तरह ही जीवन जीती हैं। अर्थात् औरत के जीवन की यह अंतहीन यात्रा है, जिसका कोई अंत नहीं है।

मोहल्ले के इस खौफ़नाक माहौल में भी गुलाब बाई ढाल बनकर खड़ी रहती है। लालचंद कल्लन जो श्यामा का कातिल है, उसे जेल भेजती है और तय करती है कि श्यामा की बेटी कंचन को पढ़ा-लिखाकर अफ़सर बनाएगी और नरक यातनाओं से दूर रखेगी। साथ ही अपने साथ की औरतों के घर बसाने हेतु भी वह हमेशा चिंतित रहती है। वह रामरती का ब्याह बनवारी से करवाकर उसे इस दलदल से दूर धकेलती है। बुंदू , बनवारी, रामेसर आदि औरतों के दलाल रूप में काम करते हैं, अपने काम के प्रति इमानदार हैं। इनके भीतर औरतों केलिए श्रद्धा भाव है। गुलाब बाई केलिए तो इनकी जान भी न्योछावर है। क्योंकि गुलाब बाई पैसों की लालची नहीं है। वह अन्य मोहल्ले की औरतों की तरह पैसों केलिए लड़कियों को दिन-रात खपाती नहीं है। वह उनकी अच्छाई और बीमारियों के बारे में सोचती है। तभी तो मास्टर अपने दोस्त बनवारी से गुलाब बाई के बारे में कहते हैं, "आदमी टेक पर आया हुआ हो, तो भगवान के करीब हो जाता है. आपकी गुलाब अम्मा भी टेक पर आई औरत लगती है. नहीं तो धंधे की कमाई खाने वाली कोई औरत किसी लड़की की जिंदगी सुधार देने की सोचे यह सब उपरवाले की प्रेरणा से ही होता है."[4] गुलाब बाई के प्रति यह धारणा सब लोगों की है कि वह ख़ुद औरत है, अतः औरत होने के दर्द को जानती है। उसने पूरी ज़िंदगी उस दर्द को झेला है। अब वह चाहती है कि अन्य कोई भी उस पीड़ा से न गुज़रे, अज्ञेय की कविता की तरह। अज्ञेय की कविता है, 'दुःख सबको माँजता है, और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किंतु जिनको माँजता है, उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें'। दुःख की पीड़ा ने गुलाब बाई को अहसास कराया था कि अब जितना हो सके अन्य को मुक्त रखना है, क्योंकि वह समझती है कि एक बार धंधेवाली औरत की सेहत गिरने लगती है तो गिरती ही जाती है। बुढ़ापा तो और तकलीफ़ देह होता है। अतः गुलाब बाई हर उस अवसर की तलाश में होती है, जहाँ से वह अपनी लड़कियों को इस दलदल से बाहर निकाल सके, जैसे वह कहती है, "देख बुलांकी दरवाज़े बंद दिखाई पड़े तो आदमी तो ज़िंदगी बाहर न निकलने की ना उम्मीदी में थोड़े बैठ जाता है? सारे दरवाजे बंद हो मन के किवाड़ खुले रखें। मेरे कहे को गाँठ बांधकर रखना, बाहर का अँधेरा छाए तो भीतर की लोन मरने दे आदमी। मैं मरती मर जाऊँगी, मगर जहाँ है, वहाँ से न वापस लौटना है, न नीचे उतरना है। देख कि कुछ नहीं कर पाई है। सिर्फ़ इरादों में वक्त बीतता गया। मगर महसूस करती हूँ, जैसे लंबी यात्रा पर निकल ही चुकी। मौत तो सबको आनी है और ज़्यादा से ज़्यादा मौत तो आनी है।"[5] गुलाब बाई ने अपने जीवन से उम्मीद और विश्वास को कभी मरने नहीं दिया। इसी विश्वास के बूते पर वह चाहती है कि अब बुलांकी का घर बस जाए। बुलांकी केलिए वह रामेसर का चयन करती है। इतना ही नहीं रामेसर अपने पैरों पर खड़ा हो, इसीलिए अपनी ज़िंदगी भर

की कमाई का बड़ा हिस्सा उसे देकर सहयोग करती है। रामेसर भी उन पैसों से रिक्शा लेकर नई शुरुआत करता है। गुलाब बाई उन दोनों को भी अपनी औलाद की तरह मानती है। लेकिन रामेसर को यह हिदायद भी है कि यहाँ से निकलने के बाद बुलांकी के कदम दुबारा किसी कोठे पर नहीं पड़ने चाहिए। साथ ही श्यामा की बेटी कंचन को माँ-बाप का प्यार मिले। गुलाब बाई अपनों की खुशियों केलिए अपनी ख़ुशी का त्याग करती है। वह जानती है, इस ढलान के दिनों में अपनों का साथ ज़रूरी है, साथ ही कंचन के बिना दिन गुज़ारना भी मुश्किल है। लेकिन उनके भविष्य केलिए वह अपने भविष्य को कुर्बान करने केलिए तैयार है।

शैलेश मटियानी जी ने बहुत ही बारीकी से इन मोहल्लों की सच्चाई को उद्घाटित किया है। इनके भीतर के सुख-दुःख, हास-परिहास इसमें प्रामाणिकता से दर्ज हैं। इनके भीतर की इर्ष्या-द्वेष को भी लेखक ने अभिव्यक्त किया है। यहाँ रहनेवाली सभी औरतें पीड़ित ही होती हैं। अतः जीने केलिए एक-दूजे को सहयोग करना आवश्यक होता है, किंतु आपसी द्वेष इनके भीतर के संघर्ष का कारण भी बनता है। इस उपन्यास में शैनाज बाई जैसी औरतें भी उपस्थित हैं, जो अपने स्वार्थ को हासिल करने केलिए सारी हदें लांघती हैं। गुलाब बाई के व्यवहार और बढ़ते मान-सम्मान से भी इन्हें तकलीफ़ होती है। अतः वे हरदम इस ताक में रहती हैं कि गुलाब बाई को हर तरिके से पराजित करें। अभी भी शैनाज की नज़र श्यामा की उस नौ साल की कंचन पर है, जिसे धंधे पर बिठाकर वह अधिक पैसा कमाना चाहती है। जबकि गुलाब बाई कंचन को इस दलदल से निकालकर एक परिवार और बेहतर ज़िंदगी देना चाहती है। शैनाज एक-दो बार गुलाब बाई को धमका दे चुकी है। वह अपनी चाह को पूरा करने केलिए कुछ गुंडों को गुलाब बाई के पास भेजती है। इसमें लालचंद कल्लन भी है, जिसने कुछ साल पहले श्यामा का कत्ल किया था। उनके आने से कमरे में तनाव बढ़ जाता है। लालचंद अपने सम्मुख कंचन को प्रस्तुत करने केलिए कहता है। गुलाब बाई उसकी उम्र की दुहाई देकर उससे दूर रहने की बात करती है। लालचंद बड़ा-सा छुरा निकालकर सामने रखता है और भोला को कंचन को लेकर आने केलिए कह देता है। गुलाब बाई यंत्रवत खड़ी रह जाती है। उसे लगता है अब सबकुछ ख़तम होने को है, वे सारे सपने और अरमान जो उसने कंचन केलिए देखे थे। भोला कंचन को लेकर नीचे आ गया। यह देख एकाएक गुलाब बाई अपना आपा खो देती है। जैसे, "तमंचा खिड़की की तरफ़ से नाली में फेंकती, बिल्ली की सी उछाल लगाती गुलाब बाई भोला तक पहुँच गई और छुरा ऐसे चलाया कि भोला के जबड़े में घँस गया। कंचन को खींच, अपनी पीठ के पीछे करती अब गुलाब बाई जैसे पूरे संतुलन में होती बोली, आओ लालचंद कल्लन अब आगे आओ और दिखाओ मुझे कि इस हव्वा की औलाद में कहाँ है रंडी।"[6] गुलाब बाई की दहाड़ में कमरे का माहौल ही बदल जाता है। लालचंद अपनी जान बचाते हुए भाग निकलता है। भोला को मारते हुए गुलाब बाई का भी हाथ थोड़ा सा कट जाता है। पर उसे अपनी तकलीफ़ की फ़िक्र नहीं है। उसे तो इस बात का विश्वास है कि उसने आज कंचन के भविष्य को अपनी जान पर खेलकर हमेशा केलिए सुरक्षित कर लिया है।

दरअसल 'बावन नदियों का संगम' उपन्यास वेश्या जीवन की त्रासदी को मार्मिकता से अभिव्यक्त कराता हुआ भीतरी दुनिया की यात्रा कराता है। वैसे भी कोठे की दहलीज़ लांघकर औरत के दिल तक पहुँचने वाले इंसान कम ही होते हैं। यहाँ तो लोग महज़ अपनी शारीरिक भूख मिटाने केलिए ही कदम रखते हैं। लेकिन यहाँ की औरतों के भीतर भी मानवीयता होती है। वह अपने पेशे के प्रति इमानदार होती है। यह इन औरतों की ही मेहरबानी है कि आज घरों में रहनेवाली औरत कुछ हद तक सुरक्षित है। नहीं तो कई भेड़िये अपनी हवस को पूरा करने केलिए घर की दहलीज़ भी पार कर लेते हैं। यह सच है कि आज आधुनिक समय में भी औरत सुरक्षित नहीं है और यह भी सच है कि वह आज जग गई है। उसे अपनी शक्ति और सामर्थ्य का अहसास हुआ है। इसी विश्वास के आधार पर गुलाब बाई जैसी पीड़ित और शोषित औरत भी दूसरों के हक़ और अधिकार केलिए लड़ती है। वे अपनी लड़कियों केलिए पूरी दुनिया से

लड़ने का हौसला रखती है। गुलाब बाई जैसी औरतों की वजह से ही आज मानवीयता बची है। जैसे गुलाब जहाँ भी हो ख़ुशबू देता है, वैसे ही गुलाब बाई अपने कर्म की ख़ुशबू से अपने आसपास के वातावरण को सुगंधित करती है।

संदर्भ संकेत :-

1.आख्यान महिला विवशता का, हरिश्चंद्र व्यास; आर्य प्रकाशन मंडल दिल्ली; 2010; पृ 37

2.बावन नदियों का संगम, शैलेश मटियानी, परिमल प्रकाशन, प्रयागराज, 1981, पृ88 .

3.वही, पृ143 .

4.वही, पृ180 .

5.वही, पृ 200.

6.वही, पृ.288

◆सहायक अध्यापक,

हिंदी विभाग,

सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-07

मो. नं. 9822880790

ई.मेल :mdawange200@gmail.com

कुसुम अंसल के उपन्यासों में नारी जीवन की अस्मिता

◆ **डॉ.षीबा शरत एस .**

स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य में नारी का दृष्टिकोण एक नए मोड़ पर आकर खड़ा हुआ है । समकालीन उपन्यास साहित्य में भारतीय जीवन-प्रणाली और उससे संबन्धित सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक पहलुओं को उजागर करनेवाली नारी का दृष्टिकोण निरंतर विकासशील बन रहा है। स्त्री - पुरुषों के पारस्परिक संबन्धों में मैत्री और प्रेम मनोवैज्ञानिक तल पर नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु पारस्परिक दाम्पत्य संबन्धों में असंतुलन एवं दरार आ गयीं । यौन उच्छृंखलताओं ने नैतिकता के समस्त बंधनों को तोड़ा है । परिवार में कुंठा, तलाक, टूटन, बिखराव बढ़ने लगे। समस्त परंपरागत मूल्यों को ठुकराना शुरू हुआ । वैयक्तिक अस्तित्व को बनाए रखने के प्रयास में नारी में घुटन, तनाव, संत्रास, पीड़ा, एकाकीपन , अलगाव, बिखराव आदि बढ़ने लगे। मोहभंग की स्थिति में नारी को विभिन्न परिस्थितियों से जूझना पड़ा। इन सब जीवन परिस्थितियों को कुसुम अंसल ने अपने उपन्यासों में रेखांकित किया है ।

बीद शब्दः नारी विमर्श, अस्तित्वबोध, जीवन-मूल्य, जीवन-दर्शन।

हिन्दी साहित्य में अमिट छाप छोड़नेवाली कुसुम अंसल ने अपनी मौलिक अभिव्यक्ति और संवेदना के कारण अपनी अलग पहचान बनी रखी है। नारी जीवन की समस्याओं को बड़ी सच्चाई, ईमानदारी, सहानुभूति एवं आत्मीयता से उन्होंने अपने उपन्यासों में रेखांकित की है। नारी-स्वतंत्रता की सबल समर्थक होने के कारण उन्होंने सत्य को निर्भीकता से व्यक्त किया है। नारी मन की सूक्ष्म अनुभूतियों को भावुकता और बौद्धिकता के धागे में पिरोया है। अपने कथा साहित्य में उन्होंने समाज की विभिन्न समस्याओं का रेखांकन किया है। समाज की ज्वलन्त समस्याओं का अत्यन्त मार्मिकता से उन्होंने चित्रण किया है। उनके उपन्यासों में नारी-विमर्श, अस्तित्व बोध, पारिवारिक संबन्ध, जीवन-मूल्य, जीवन-दर्शन आदि विविध आयाम परिलक्षित होते हैं। विपरीत परिस्थितियों में भी उनके पात्र आगे बढ़ते नज़र आते हैं। निराशा, हताशा, कुंठा, संत्रास आदि के बावजूद भी वे निरंतर संघर्ष करते हुए परिस्थिति पर विजय प्राप्त करते हैं। उदास आँखें (1975), नींव का पत्थर(1976),उसकी पंचवटी(1978), उस तक (1979), अपनी-अपनी यात्रा(1981), एक और पंचवटी(1985), रेखाकृति(1986) और तापसी (2003) के साथ-साथ दो पंजाबी उपन्यास और दो अंग्रेज़ी उपत्यास भी उन्होंने लिखे हैं ।

"उदास आँखें" – उपन्यास में सुपर्णा नामक एक लड़की के द्वारा महाविद्यालय के जीवन को दर्शाया गया है। वहाँ सुपर्णा को कई परेशानियों का सामना करना पड़ता है, जैसे- लड़कों से महविद्यालय की लड़कियों के अलग-अलग उपनामों की सूची दीवार पर चिपकाना, सुपर्णा का रोना , लड़कों की शरारतों को चुपचाप सहना आदि। "नींव का पत्थर" उपन्यास में शिखा नामक एक लड़की को गाँव के लोगों द्वारा घुटन महसूस होता है। शिखा के माँ - बाप ज़िन्दा नहीं हैं। भाभी के साथ विदेश चली उसे अपने गाँव की यादें सताती हैं। उसे घुड़सवारी पसंद है। इस पर रुष्ट होकर गाँव के लोगों द्वारा दादी माँ को डाँटकर उसे शहरी पेहराव गाँव में न करने की सूचना देने पर शिखा दुःखी हुई थी। विदेश में भाभी ने उसके बाल काटकर पैंट, शर्ट पहनाया तो वह बेहद दुःखी हुई। अनुराग, चारु, बिपिन आदि उसके दोस्त हैं । अनुराग से वह प्यार करती है। उसका घुटन का कारण अनुराग की अनुपस्थिति है । इतने में खानदानी श्रीवास्तव अपने बेटे के लिए शिखा का हाथ माँगने आता है । लेकिन उसकी नज़र शिखा की जायदाद पर थी। फिर अनुराग से शिखा का प्रेम टूटता है। प्रेम टूटने पर शिखा की उदासी, दुःख, घुटन सब बढ़ते ही रहते हैं। इस मनोवैज्ञानिक पक्ष को कुसुमजी ने बड़ी बारीकी से चित्रित किया है ।

'पंचवटी' का पहला संस्करण 1977 में 'उसकी पंचवटी' के नाम से , फिर दूसरा 'एक और पंचवटी' के नाम से 1985 में प्रकाशित हुआ था। "उसकी पंचवटी"- में साधवी द्वारा संयुक्त परिवार में उभरी हुई घुटनशीलता का चित्रण किया है । दस से ज़्यादा दिन घर से बाहर काम के बहाने चले गए पति यतीन की अनुपस्थिति साधवी के अकेलेपन को बढ़ाती है । उसके सपने यहाँ साकार नहीं होते हैं । धीरे - धीरे देवर के प्रति उसके मन में प्रेम जागता है। फिर पति और देवर विक्रम के खिंचाव के प्रति मन में कश्माकश पैदा होती है। विक्रम की मौत होने पर भी साधवी का घुटन बढ़ता है। "उस तक"- में सागर और मुक्ता की मुलाकात से लेकर उन दोनों के अलगाव तक कुसुमजी ने लिखा है। मुक्ता, सागर जैसे बड़े अधिकारी से अपने को छोटा मानती है, जिससे उसकी घुटनशीलता बढ़ती है। "अपनी - अपनी यात्रा" में सुरेखा और वधु परीक्षा के बीच के रिश्ते में दरार आती है। सपने टूटना, जीवन की उदासियाँ, साँवलापन , सौतेली माँ की भर्त्सना अपने घर में पराए बनना आदि सुरेखा की घुटन की परेशानियाँ हैं। इसी बीच वह प्रेम के द्वंद्व में भी फँसता है। डॉ.आर.पी.भोसले के शब्दों में - "कुसुम अंसल के 'उसकी पंचवटी'(1978) उपन्यास में साधवी के चरित्र में आधुनिक नारी मूल्य के दर्शन होते हैं । वह अपने प्रेमी विक्रम को उसकी प्रथम विवाहित पत्नी को तलाक देने से रोकती है। वह विक्रम की पत्नी को अपने जीवन की बाधा न मानकर खुद अकेला जीवन भोगना चाहती है। यहाँ उसके आदर्श जीवन-मूल्य उभरे हुए दिखाई देते हैं। साधवी विक्रम को अपराधी नहीं मानती है , उसके आधुनिक नारी जीवन मूल्य के अनुरूप विचार हैं "। (कुसुम अंसल के हिन्दी साहित्य में चित्रित नारी जीवन के विविध आयाम- डॉ.आर.पी.भोसले, पृष्ठ संख्या 121, पूजा पब्लिकेशन, कानपुर- 208021)

"रेखाकृति" में मालविका का घुटन दर्शाया गया है। अपने पिता के मृत्युपरान्त दुःखी बने उसे अपनी माँ के एक विदेशी पर्यटक पिअरे के साथ अवैध यौन संबन्ध मन को और दुःखी बनाता है। उसकी पीएच.डी के निदेशक प्रो. शरद की मृत्यु, बाद में शरद के रिक्त स्थान पर उसकी नियुक्ति उसका घुटन बढ़ाता है। स्नेह की भूखी मालविका को माँ का विलासप्रिय जीवन दुःखी बनाता है। महानगरीय विधवा नारी मालविका की भारतीय माँ की संस्कृति अनैतिक संबन्ध में बदलती है। "तापसी" उपन्यास की नायिका एक बंगालिन विधवा है। उसकी शादी माँ - बाप ने पैसों के लालच में एक बूढ़े के साथ कर दी थी । तापसी, वृन्दा, नूराबाई, बरौता तथा विधवा आश्रम इंचार्ज अंबिका देवी द्वारा मठों, मंदिरों और आश्रमों की वास्तविकता को बड़े प्रभावशाली ढ़ंग से उजागर किया गया है। इन विधवाओं को हर वक्त डाँट- फटकार मिलती हैं। तापसी ऐसी ही परिस्थितियों की शिकार हैं ।

इन उपन्यासों में नारी जीवन की अनुभूति, महानगरीय जीवन में तड़पती हुई नारियों के जीवन

का घुटन, नारी की प्रेम संबन्धी संकल्पना, प्रतिशोध की भावना, विवाहपूर्व एवं विवाहोत्तर यौन संबन्ध तथा नौकरी पेशावाली नारी की दयनीयता संबन्धी समसामयिक घटनाओं को उन्होंने वाणी दी है। लेखिका ने अपने साहित्य के माध्यम से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि हमारा नज़रिया, हमारा दृष्टिकोण आदि हमें बदलते हैं, जिससे हमारे विचार व्यापक बनेंगे व नज़र गहरी बनेगी। पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव और स्त्रियों की स्वतंत्रता के लिए लड़ाई और स्त्री-स्वतंत्रता का गलत फायदा भी स्त्री-पुरुष संबन्ध बनने और बिगड़ने में अपना - अपना स्थान रखते हैं। आज की स्त्री अनेक स्तर पर अतृप्त है, जैसे- वैचारिक, साहित्यिक, बौद्धिक व रोमांटिक। इन स्तरों पर अगर वह किसी एक में भी अतृप्त है तो अपनी अलग राह चुनने में वह निकल पड़ती है और फलस्वरूप दांपत्य संबन्धों में दरारें आना शुरू हो जाती है। डॉ.किरणबाला जाजू के शब्दों में "स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सामाजिक संबन्ध बदल गये थे। इस बदलाव के कई कारण थे - भौगोलिक सीमाओं का विघटन, आर्थिक विषमता, मशीनीकरण, शहरीकरण,आधुनिकीकरण, जनसंख्या-वृद्धि, अशिक्षा एवं देश-विभाजन। फलस्वरूप समाज में बिखराव आने के अतिरिक्त व्यक्ति - व्यक्ति , व्यक्ति - परिवार , व्यक्ति व समाज सभी संबन्धों में अंतर आया। इस अंतर के कारण या इस विश्रृंखलता के कारण मानवीय संवेदनाओं की मृत्यु हुई और विषमता की निर्मिति हुई। इसी विषमता से स्त्री - पुरुष संबन्ध भी बदलने लगे"। (मृदुला गर्ग के साहित्य में चित्रित समाज - डॉ.किरणबाला जाजू (मुंदड़ा), पृष्ठ संख्या 79, अमन प्रकाशन, उत्तर प्रदेश)। इनके समग्र साहित्य में एक जीवंत और चलता - बोलता समाज झलकता है। ज़्यादा से ज़्यादा स्त्री - पुरुष संबन्धों पर विचारोत्तेजक सामग्री का संकलन है। जीवन और समाज की विसंगतियों के फलस्वरूप व्यक्ति को ऊब और दर्दनाक एकाकीपन महसूस होते हैं। कुसुमजी अपने साहित्य के माध्यम से अपने विचार, अपनी कल्पना, अपनी तरह का समाज रखती हैं। अपने विचारों का, परिवार एवं उनमें व्याप्त स्त्री-पुरुष संबन्धों का मनोवैज्ञानिक स्तर देखेंगे। स्त्री- परुष संबन्धों का मनोवैज्ञानिक स्तर अत्यन्त रोचक तरीके से प्रस्तुत किया गया है। इनके चरित्रों में अस्तित्व की खोज है । इनमें आधुनिक जीवन की तीव्र संवेदना भी शामिल है। इन चरित्रों की खासियत यह है कि निरंतर संघर्ष करके वे सब परिस्थिति पर विजय हासिल करते हैं ।

सहायक ग्रन्थ सूची:

1 . कुसुम अंसल के हिन्दी साहित्य में चित्रित नारी जीवन के विविध आयाम- डॉ.आर.पी.भोसले; अमन प्रकाशन, कानपुर।

2.मृदुला गर्ग के साहित्य में चित्रित समाज - डॉ. किरणबाला जाजू (मुंदड़ा); अमन प्रकाशन, कानपुर; 2012

3.हिन्दी उपन्यासों में स्त्री - पुरुष संबन्धों का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन - डॉ.चन्द्रप्रकाश पाठक; सरस्वती प्रकाशन, कानपुर; 2013

◆प्रोफसर, हिन्दी विभाग
यूनिवेर्सिटी कॉलेज
तिरुवनतंपुरम, केरल।
मोबाईल नंबर - 9447743225
ई मेल-sheebasaraths@gmail.com

'कस्बाई सिमोन' उपन्यास में सहजीवन

◆डॉ. लक्ष्मी एस.एस

सारांश : भारतीय संस्कृति सबको आत्मसात करना सिखाती है। इसलिए भारत में आज सहजीवन को मान्यता प्राप्त हुई है। एक ओर यह परम्परागत विवाह व्यवस्था के लिए चुनौती है, दूसरी ओर अनेकों के लिए यह राहत भी है। परम्परागत संस्कारों और जीवन-शैली के नवीन प्रयोगों में खूबियों के साथ-साथ खामियाँ भी हैं। अपने जीवन की राह चुनने का अधिकार सबको है। 'कस्बाई सिमोन' उपन्यास में सहजीवन के विभिन्न पहलुओं को हमारे सामने रखा गया है।

बीज शब्द : कस्बाई मानसिकता, सह जीवन, सिमोन द बुआ, परम्परागत विवाह-व्यवस्था, उन्मुक्त जीवन, असामाजिक रिश्ता।

मानव सभ्यता का विकास क्रम जंगली जीवन से होकर ग्राम्य जीवन से चलते महानगरीय जीवन प्रणाली में आ गया है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप परंपरागत मूल्यों से हटकर आधुनिक विचार का उदय हो गया है।

भारत में तो वैवाहिक व्यवस्था अति प्रचलित अवधारणा है। परम्परागत समाज में पुरुष आज भी स्त्री को अपने हितों के अनुरूप ढालना चाहता है । किन्तु आधुनिक स्त्री बराबर का हक़ चाहती है। श्यामचरण दुबे ने अपनी पुस्तक 'परम्परा, इतिहास बोध और संस्कृति' (2014) में लिखा था "नारी को न पूजा की ज़रूरत है, न ताडना की। वह सिर्फ समता चाहती है। असहमति, विद्रोह और सुधार की परम्पराओं ने न्याय की माँग उठाई। वे आशिंक रूप से सफल भी हुईं।"[1]

वर्तमान सदी में महिला लेखिकाओं ने स्त्री अस्मिता को तर्कपूर्ण ढंग से चित्रित किया है। नासिरा शर्मा कहती हैं "न जाने पुरुषों को पत्नी के रूप में कैसी स्त्री चाहिए? यदि वह अनपढ़, अनगढ़ है, तो फूहड़ कहलाती है और पढ़ी-लिखी मिल जाए तो उसको चुस्ती से आतंकित हो जाते हैं।"[2] स्त्री समस्याओं को अपने लेखन का माध्यम बनाने वाली प्रमुख लेखिकाओं में कृष्णा सोबती,मृदुला गर्ग, मन्नू भंडारी, अमृता प्रीतम, प्रभा खेतान, चित्रा मुद्गल, कुसुम अंसल, मृणाल पांडे, प्रभा शास्त्री, सुधा अरोड़ा, मेहरून्निसापरवेज़, मधु कांकरिया, गीतांजलि श्री, निर्मला भुराड़िया, शरद सिंह आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

भारतीय इतिहास, पुरातत्व एवं मूर्तिकला में रुचि रखने वाली शरद सिंह साहित्यकार के साथ-साथ सशक्त पत्रकार भी हैं। पिछले पन्ने की औरतें [3], पचकौड़ी [4] , कस्बाईसिमोन [5] , तीली तीली आग [6] , छिपी हुई औरत और अन्य कहानियाँ [7] , पत्तों में कैद औरतें [8] , डॉ. अंबेडकर का स्त्री विमर्श [9] आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

'लिव इन रिलेशनशिप' यानी प्रेम और अधिकार का द्वन्द्व शीर्षक से दैनिक 'नेशनल दुनिया' में 4 नवंबर 2012 में प्रकाशित एक लेख में शरद सिंह ने स्पष्ट किया कि "हर औरत अपने अस्तित्व को जीना चाहती है पुरुष के साथ, किंतु अपने अधिकारों के साथ। पुरुष से अधिक नहीं तो पुरुष से कम भी नहीं, क्योंकि कम होने की पोड़ा सदियों से झेलती आ रही है और अब बराबर होने का सुख पाना चाहती है। यही ललक उसे 'लिव इन रिलेशनशिप' के प्रति आकर्षित करती है। किन्तु यह तो जाँचना आवश्यक है कि इसमें भी स्त्री क्या-क्या खोती है और क्या क्या पाती है? 'लिव इन रिलेशनशिप' वस्तुतः प्रेम और अधिकार का द्वन्द्व है जिसकी तर तक पहुँचना हर स्त्री के लिए आवश्यक है।"[10]

'कस्बाई सिमोन' उपन्यास की नायिका सुगंधा वैवाहिक संस्था को नकारती है। सुगंधा अपने जीवन को स्वतंत्रता पूर्वक जीना चाहती थी, क्योंकि उसने अपनी माँ को कष्ट और यातनाओं को झेलते देखा था। सुगंधा का यह नाम उसको उसके पिता द्वारा दिया गया था। परम्परागत स्त्री होने के कारण सुगंधा की माँ भी अपने पति की इच्छा, रुचि और आदेश को मान लेती है और वे भी उसी नाम से पुकारने लगती हैं - 'सुगंधा'। सुगंधा माता-पिता के रोज़-रोज़ के झगड़ों से सहम गई थी, डर गई थी। इसलिए उसने शादी न करने का फैसला कर लिया था। सुगंधा जबलपुर में एक दफ्तर में काम करती थी और उसकी माँ दूसरी शहर में रहती थी। सुगंधा अकेले रहकर जीवन-यापन कर रही थी। सुगंधा को लिखने का भी शौक था। स्थानीय अखबारों में अपने लेख छापने को भी देती थी।

मृदुल भी उसी दफ्तर में काम करता था और सुगंधा के लेखों का प्रशंसक भी था। सुगंधा अपने लेखों में अक्सर स्त्री की सामाजिक स्वतंत्रता के बारे में लिखती जिस पर मृदुल टिप्पणी करता था।"'आप तो सिमोन जैसी हैं।"[11] सुगंधा पूछती है कि यह सिमोन कौन है? मृदुल ने 'सिमोन द बुआ' के बारे में सुगंधा को बताया था। मृदुल ने सुगंधा को समझाया कि "सिमोन' एक फ्रांसीसी लेखिका, उनका जन्म पेरिस में हुआ। सिमोन ने दार्शनिक, राजनैतिक और अन्य सामाजिक विषयों पर किताबें लिखी जिनमें 'द सेकेंड सेक्स' सबसे अधिक चर्चित हुई। इस किताब में उन्होंने

स्त्री शरीर और मन के बारे में पितृसत्ता द्वारा बनाए गए तमाम मिथकों और पारंपरिक विश्वासों को खुली चुनौती दी। "[12]

मृदुल सुगंधा का अच्छा मित्र था, प्रेमी नहीं। उसके प्रति सुगंधा के मन में सम्मान और स्नेह के भाव थे, प्रेम के नहीं। "मृदुल पढ़ाकू किस्म का इंसान था और अक्सर कोई न कोई किताब पढ़ता रहता था। उसकी आदत थी कि वह वेतन मिलने पर हर माह कम से कम दो साहित्यिक किताबें अवश्य खरीदता था। उसकी पत्नी इसे फिजूलखर्ची मानती थी, लेकिन इससे उसे कोई अंतर नहीं पड़ता था।"[13]

सुगंधा ने मृदुल से माँगकर 'अपराध और दंड' तथा 'अन्ना करेनीना' पढ़ी थी। "प्रेम को लेकर स्त्री इतनी विवश क्यों हो जाती है कि उसे प्रेम करने के लिए आत्महत्या करनी पड़े। इस प्रश्न का उत्तर वह कई दिनों तक सोचती रही, लेकिन उत्तर पा नहीं सकी। उस समय तक तो वह प्रेम से अनभिज्ञ थी।"[14]

एक दिन सुगंधा दफ्तर से घर जाने निकली थी। सुगंधा ऑटोरिक्शा के लिए देख रही थी। उस समय बूँदा-बाँदी शुरू हो गई थी। ठंडी हवाओं की गति भी बढ़ गई थी। बादलों की गर्जना इस बात का संकेत दे रही थी कि कुछ देर बाद बारिश बढ़ेगी ही। सुगंधा को कोई ऑटोरिक्शा नहीं मिला तो घर कैसे जाएगी, इसी सोच में खड़ी थी। तभी उसके पास एक मोटर साइकिल पर सवार एक युवक आकर खड़ा हुआ।

सुगंधा से कहने लगा "कब तक आटो की प्रतीक्षा करेंगी? चलिए मैं आपको घर छोड़ देता हूँ। न नुकुर के बाद क्यों सुगंधा ने मान लिया था। शायद वहाँ सूनेपन से चिन्तित होकर।"[15] बारिश की वजह से वहाँ सूनापन था। और युवक ने उसे दिलासा दिया था, वह घर तक छोड़ेगा कहीं और नहीं। इस तरह से उपन्यास में सुगंधा के जीवन में एक पुरुष का आगमन हो जाता है। युवक ने अपना परिचय देते हुए कहा, "दरअसल मैं रितिक शर्मा हूँ।"[16] रितिक मल्टी नेशनल कम्पनी में नौकरी करता था। सुगंधा रितिक की मोटरसाइकिल पर बैठ गई और रितिक ने उसे घर तक पहुँचाया। इस तरह रितिक और सुगंधा की मुलाकात धीरे धीरे बढ़ती गई। वे दोनों कभी-कभी घूमने भी निकल जाया करते थे और रितिक का सुगंधा के घर आना-जाना शुरू हो गया था और नज़दीकियाँ बढ़ती चली गईं।

रितिक भी सोचता था कि शादी-ब्याह फिजूल की बातें हैं। वह शादी नामक रस्म में विश्वास नहीं रखता था। सुगंधा से रितिक ने पूछा था कि बिना शादी किए 'लिव इन रिलेशन' में उनके साथ रहेगी क्या? "[17] रितिक ने चुनौती-सी देते हुए पूछा था और सुगंधा उसके जाल में फँस गई थी, क्योंकि वह रितिक से प्यार करने लगी थी। वह अपने जीवन को अपने ढंग से जीना चाहती थी और 'लिव इन रिलेशन' वाला फंदा उसे अच्छा लगा। "बिना विवाह किए किसी पुरुष के साथ पति-पत्नी बनकर रहने की कल्पना ने उसे रोमांचित कर दिया था। उसमें उसे अपनी स्वतंत्रता दिखाई दी। वह जब चाहे इस रिश्ते से मुक्त हो सकती थी, वस्तुतः उसे मुक्त ही रहना था, बंधन तो वहाँ होता जहाँ किसी नियम का पालन किया जाता।"[18]

सुगंधा अपने जीवन को अपने ढंग से जीना चाहती थी। "सुगंधा ने बचपन में ही अपने माता-पिता के बंधन को तार-तार होते देखा था। वैवाहिक बंधन का विकृत रूप ही होता था। वह किसी फोसिल के समान उसके मन की चट्टानों के बीच दबा हुआ था, एकदम सुरक्षित।"[19] रितिक और सुगंधा साथ-साथ रहने लगे थे। रातों को रितिक का सुगंधा के यहाँ रुकना आस-पास के पड़ोसियों को चुभने लगा था। उपन्यास में लेखिका ने 'लिव इन रिलेशन' में रहने पर समाज में लोगों की कैसी-कैसी बातों का सामना करना पड़ता है, इस पर ध्यान दिलाया है। सुगंधा और रितिक सह-जीवन शुरू करने के लिए नया घर खरीद लेते हैं। दोनों एफ.डी. तुड़वाकर, पैसे निकाल लेते हैं और लोन भी लेते हैं। सुगंधा और रितिक के घरवालों को इसकी सूचना नहीं थी कि उन दोनों ने नए घर में साझा गृहस्थी जमाई थी। रितिक के पिताजी और सुगंधा की माँ, दोनों को शादी करने के लिए समझाते हैं। उनके सभी प्रयत्न असफल हो जाते हैं। सुगंधा अपना निर्णय सुना देती है कि वह अपनी ज़िन्दगी अपने ढंग से जीना चाहती है। उसका तर्क यह है कि विवाह के बाद भी वैचारिक धरातल पर स्त्री अपनी स्वतंत्रता के लिए जूझती रहती है तो ऐसा विवाह उसे

मान्य नहीं। लेकिन दोनों ही स्वतंत्र रहने का फैसला करते हैं। लेखिका यह भी संकेत करती हैं कि जब स्त्री-पुरुष, दोनों साथ रहते हैं तो भुगतना, स्त्री को ही पड़ता है और पुरुष को किसी भी तरह की समस्या नहीं आती है। "रितिक और सुगंधा दोनों साथ रहते थे, लेकिन संभोग के वक्त ध्यान सुगंधा को रखना पड़ता था। वह 'कॉन्ट्रासेप्टिव पिल्स' का इस्तेमाल करती थी। लेकिन एक दिन उसने अपनी सहेली कीर्ति से पूछ लिया काँट्रेसेप्टिवपिल्स' का अधिक प्रयोग करने से नुकसान तो नहीं होता है न?"[20] तो कीर्ति सुगंधा को किसी डॉक्टर से सलाह लेने के लिए कहती है। डॉक्टर की सलाह के बाद सुगंधा कापर-टी लगवा लेती है। । पाँच वर्षों के सहजीवन के बाद रितिक के स्वभाव में होने वाले परिवर्तन को सुगंधा महसूस करने लगी थी। रितिक अब पहले जैसा नहीं रहा। अब वह उससे झिड़कने भी लगा था। कई बार बिल्कुल लापरवाह पति की तरह।

उपन्यास में रितिक और सुगंधा का रिश्ता जो असामाजिक रिश्ता था, वह धीरे-धीरे सामाजिक आकार लेता जा रहा था। दायित्वों को लेकर सुगंधा से रितिक की अपेक्षाएँ बढ़ गई हैं। वह उस पर अपना अधिकार जमाने लगा था। उसके साथ ज़ोर ज़बरदस्ती करने लगा था। उसकी रुचि-अरुचि का कोई मान ही नहीं रखता था। वह उसको यंत्रवत मानने लगा। इस सन्दर्भ में लेखिका के ये शब्द उल्लेखनीय हैं "जिस ताज़गी को बनाए रखने के लिए उन्होंने विवाह नहीं किया था, वह ताज़गी कहीं पीछे छूटती जा रही थी। वह विवाहित नहीं है इसलिए स्वतंत्र है कि वह ताज़गी इतर व्यक्तियों में ढूँढ सके।"[21] इस समाज में स्वतंत्रता प्रिय स्त्री सदा संदेह की दृष्टि से देखी जाती है। रितिक भी उसे इस दृष्टि से देखने लगा था। रितिक डरने लगा था कि वह उसके वैधानिक बंधन में नहीं थी। धीरे-धीरे रितिक और सुगंधा का रिश्ता टूटने के कगार पर आ पहुँचा था। "रितिक ने सुगंधा को 'रखेल' कहा।"[22] सुगंधा का मन विक्षिप्त हो उठता है और मन करता कि उसी समय रितिक से पूछूँ कि क्या तुमने मुझे 'रखा' है? क्या में तुम्हारी 'रखेल' हूँ? लेकिन एक दिन वह इसी बात से मज़बूरन घर छोड़ देती है। रितिक से अलग होने के बाद वह उन्मुक्त जीती है। उपन्यास में समाज के उस वातावरण को दर्शाया गया है, जो कस्बाई मानसिकता से युक्त है। सुगंधा कुछ दिनों के लिए अपनी माँ के पास चली जाती है और अपना स्थानांतरण जबलपुर से सागर करवा लेती है।

सुगंधा रितिक से अलग होने के बाद उनमुक्त थी, स्वतंत्र थी। सागर शहर सुगंधा को बहुत पसंद आता है। जबलपुर से भी अधिक। सुगंधा की मुलाकात विश्वविद्यालय परिसर में ऋषभ से होती है। ऋषभ एक प्राध्यापक है जो छिंदवाडा में नियुक्त था, लेकिन अध्ययन अवकाश पर वहाँ रह रहा था। सुगंधा और ऋषभ कम समय में एक दूसरे के नज़दीक आने लगे थे। ऋषभ और सुगंधा खजुराहो घूमने जाते हैं। वहाँ पर सुगंधा, ऋषभ को रितिक के बारे में बता देती है। ऋषभ, सुगंधा को कहता है कि "तुम स्वयं स्वतंत्र रहने की पक्षघर हो और तुम मेरे स्थान पर जल्दी ही दूसरा पुरुष ढूँढ लोगी।"[23] सुगंधा को इसकी आशा नहीं थी कि वह ऐसा कह देगा। इसलिए सुगंधा ऋषभ को छोड़ देती है। लेखिका शरदसिंह ने स्त्री की स्वतंत्रता को एक पुरुष किस दृष्टि से आँकता है, इसका खुलासा किया है।

ऋषभ के बाद सुगंधा के जीवन में विशाल पटेल नामक युवक का आगमन होता है। सुगंधा सोचने लगती है कि "लिव इन रिलेशन भी गंधर्व विवाह जैसा ही था जिसमें एक-दूसरे को अपना जीवन साथी मानकर साथ-साथ रहने लगते थे। गंधर्व विवाह को सामाजिक मान्यता भी थी।"24 सुगंधा को लगा कि तो फिर 'सहजीवन' (लिव इन रिलेशन) में कोई आपत्ति नहीं है। सुगंधा अपने जीवन को अपने ढंग से जीना चाहती थी। उसे अपना जीवन अपने ढंग से जीने का अधिकार था। उसे चाहे कस्बाई बंधनों से ही क्यों न जूझना पड़े। एक बार फिर वह विशाल के साथ रहने को तैयार हो जाती है, यदि विशाल में साहस हो तो। रितिक की स्मृतियों से वह बाहर निकलकर उसके भीतर निहित स्त्री को एक बार फिर तौलने लगी। "इस बात की परवाह किए बिना कि संकीर्ण परम्पराओं वाली कस्बाई मानसिकता एक बार फिर चीखेगी, चिल्लाएगी।"[25]

उपन्यास 'कस्बाई सिमोन' लिव इन रिलेशनशिप पर आधारित है। सिमोन एक फ्रांसीसी लेखिका थी, जिन्होंने औरत की स्वतंत्रता की खोज में अपना सारा जीवन बिता दिया। इस उपन्यास की

नायिका सुगंधा भी अपने ढंग से जीवन जीती है। कस्बाई माहौल में रहकर भी सिमोन की तरह सुगंधा अपना रास्ता तय करती है।

भारतीय समाज अंधविश्वासों, रूढ़िगत मान्यताओं एवं संकीर्ण परम्पराओं से ग्रस्त है। उसे चारदीवारी के अंदर स्त्री की गुलामी तो मंजूर है, लेकिन स्त्री की स्वतंत्रता और उन्मुक्तता असह्य है। शरद सिंह ने इस उपन्यास के माध्यम से भारतीय सामाजिक परिवेश में 'सहजीवन' को रेखांकित किया है। लेखिका ने 'कस्बाई सिमोन' में सुगंधा के माध्यम से एक आधुनिक बेबाक स्त्री के विचार को व्यक्त किया है।

संदर्भः

1. राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ.30
2. माली गीता, शरद सिंह कृत कस्बाई सिमोन में स्त्री विमर्श, पृ 24
3. बेडिया समाज की महिलाओं पर केंद्रित
4. स्त्री-विमर्श, सामाजिक एवं राजनीतिक विमर्श पर केंद्रित
5. लिव इन रिलेशन पर आधारित
6. कहानी संग्रह, सामयिक प्रकाशन, 2010
7. कहानी संग्रह, वाणी प्रकाशन, 2009
8. स्त्री विमर्श रचना, सामयिक प्रकाशन, 2010

9 स्त्री विमर्श पर केंद्रित पुस्तक

10 . माली गीता , शरद सिंह कृत 'कस्बाई सिमोन' में स्त्री विमर्श, पृ 36

11. शरद सिंह, कस्बाई सिमोन पृ 16
12 वही, पृ 16
13. वही, पृ 17
14. वही, पृ 17
15. वही, पृ 21
16 वही, पृ 22
17.वही, पृ 31
18. वही, पृ. 31
19. वही, पृ 31
20. वही, पृ 125
21. वही, पृ 148
22. वही, पृ 150
23. वही, पृ 177
24. वही, पृ 208
25. वही, पृ 208

आधार ग्रन्थ;

कस्बाई सिमोन, शरद सिहं, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2022

सहायक ग्रंथ सूची:

1. शरद सिंह कृत 'कस्बाई सिमोन' में स्त्री विमर्श, माली गीता, वान्यापब्लिकेशंस, कानपुर, 2019

2 शरद सिंह कृत कस्बाई सिमोन में स्त्री एवं सहजीवन, विष्णुजा मोहन, विकास प्रकाशन, कानपुर, 2023

3 समकालीन हिंदी उपन्यास डॉ. एन. मोहनन, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली
सं. 2013

4. नासिश शर्मा के कथा साहित्य में संवेदना एवं शिल्प, जाहेदाज़बीन, निर्मल प्रकाशन, 2014

5 अंतिम दशक के लेखिकाओं में नारी, माली राजचंद्र, विद्या प्रकाशन, 2001

◆सहायक आचार्य,
एम.जी. कॉलेज, तिरुवनन्तपुरम, केरल।
ई. मेल: lekshmyss80@gmail.com

मंज़ूर एहतेशाम के कथा- साहित्य में सामाजिक चेतनाः मध्यवर्गीय युवा के विशेष संदर्भ में

◆ **शमीम.पी**

शोध-सार:- मंज़ूर एहतेशाम हिंदी साहित्य के प्रतिभा संपन्न रचनाकारों में हैं, जिन्होंने मध्यवर्गीय समाज को नज़दीकी से देखा-परखा और अपनी रचना का केंद्र बिंदु बनाया। उनकी प्रमुख रचनाओं- 'सूखा बरगद', 'बशारत मंजिल', 'कुछ दिन और'-में उन्होंने मध्यवर्गीय समाज के विघटन, युवा वर्ग के भटकाव और नई पीढ़ी एवं पुरानी पीढ़ी के बीच संघर्ष आदि समस्याओं को बखूबी चित्रित किया

है। 'सूखा बरगद' उनका अत्यधिक प्रसिद्ध उपन्यास है। समाज में व्याप्त रूढ़ियों और पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण के कारण आज हमारा युवा वर्ग पथभ्रष्ट हो रहा है। राजनीति भी युवा वर्ग को विकास से पतन की ओर अग्रसर कर रही है। आर्थिक परिस्थितियों के कारण भी युवा वर्ग शिक्षा के क्षेत्र में तथा सामाजिक जीवन में कठिनाइयों का सामना कर रहा है।

बीज शब्द:- मध्य वर्ग, अंधानुकरण, आर्थिक, भटकाव, पाश्चात्य, शैक्षणिक, आक्रोश।

मूल आलेख:- जीवन की तीन अवस्थाओं में युवावस्था सबसे महत्वपूर्ण मानी जाती है। साहस, शक्ति, उत्साह आदि युवावर्ग की पहचान होती है। इस कारण परिवार, गाँव और देश की आशा भरी नज़रें युवा वर्ग पर केंद्रित होती हैं। देश की अमानत समझे जाने वाले युवा वर्ग का चित्रण मंज़ूर एहतेशाम जी ने अपने कथा साहित्य में बड़ी गहनता एवं संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त किया है। युवा वर्ग की विभिन्न समस्याओं का भी गहराई से अध्ययन करते हुए युवाओं की पारिवारिक, सामाजिक, शैक्षणिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए उनके असंतोष, पीड़ा और आक्रोश को व्यक्त किया है।

बदलते समय के साथ समाज की मान्यताओं, परंपराओं और परिस्थितियों में भी बदलाव आता रहता है। युग की माँग के अनुरूप परिवर्तन होना आवश्यक हो जाता है। उन परिस्थितियों में परिवर्तन करने वाली युवा पीढ़ी होती है। लेकिन पुरानी पीढ़ी अपनी परंपराओं एवं आस्थाओं व मूल्यों पर सुदृढ़ रहने वाली है। फलस्वरूप नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के मध्य संघर्ष जन्म लेता है। युवा पीढ़ी के अनुसार पुरातन मूल्य उनका विकास अवरुद्ध कर रहे हैं। धीरे-धीरे युवा वर्ग में संपूर्ण व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष एवं विद्रोह भर जाता है। युवा वर्ग में मूल्य के प्रति निस्संगता उत्पन्न हो गई है, क्योंकि उन्हें जीवन में पुरातन मूल्य की कोई सार्थक उपयोगिता नज़र नहीं आती। युवा पीढ़ी समझ चुकी है कि अर्थ जीवन का सबसे बड़ा मूल्य है और पुरानी पीढ़ी के दकियानूसी विचारों के प्रति, रूढ़ियों के प्रति, सामाजिक मान्यताओं और परंपराओं के प्रति असंतोष की भावना है। मंज़ूर जी ने पुरातनता और नवीनता के मध्य संघर्ष को अपनी रचनाओं द्वारा सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की है। 'तसबीह' नामक कहानी पुरातनता और नवीनता के बीच इसी संघर्ष को पेश करती है। इस कहानी का मुख्य पात्र जो मुस्लिम मध्य वर्ग का प्रतिनिधि है वह रीति रिवाज़, धर्म, कर्म को ज़बरदस्ती लादा गया बोझ मानता है। तीज-त्योहारों में होने वाले खर्च, घर की ज़रूरतें और अन्य परेशानियाँ मिलकर उसे विरोधी बना देती हैं। कथानायक की माँ धार्मिक ख्यालों की महिला है। अम्मा जी को रमज़ान में ज़कात बाँटने के लिए पैसे की ज़रूरत है। इस पर बेटा कहता है-"अम्मा जी को यह नज़र नहीं आता कि पाँच साल से घर की दीवारें कलई को तरस रही हैं। घर मकबरा लगने लगा है। पैसा हो तो मैं यह ज़रूरी काम ना कराऊँ"।[1] उनके अनुसार धार्मिक आचार मनुष्य मज़बूरी वश करता है। वह धार्मिक कर्मकांड को समाज द्वारा लादा गया बोझ मानता है। उसके विचार हैं- "कोई मज़हब आँखें बंद करके कुएं में कूदने को नहीं कहता, वह ऊँची आवाज़ में बोल रहा था, अम्मा जी के सामने ज़िदगी में पहली बार। कोई नहीं कहता खुद भूखे रहकर दूसरों को भीख दो! और अगर कहता है तो मुझे ऐसे मज़हब से कुछ नहीं लेना"।[2] आज की युवा पीढ़ी आदर्श और मान्यताओं का खंडन करती है जिससे घर के बड़े बुजुर्गों के साथ मनमुटाव और मानसिक दूरी पैदा होती है।

आज की युवा पीढ़ी अनेक बुराइयों से ग्रस्त हो चुकी है, जैसे- चोरी करना, शराब पीना, जुआ खेलना, धूम्रपान करना, ड्रग्स का सेवन करना आदि। आज हमारे युवा अपनों से बड़ों का सम्मान करना भी ज़रूरी नहीं मानते हैं। मंज़ूर जी ने अपनी कहानीयों में आज की युवा पीढ़ी के भटकाव को दर्शाया है। 'रमज़ान में मौत' कहानी में आज की युवा पीढ़ी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि असद मियां गंभीर बीमारी से ग्रस्त हैं। असद मियां का बेटा जमील चोरी करना, जुआ खेलना, सट्टे लगना आदि बुरी संगतियों में पड़ गया है। असद मियां को जमील की चोरी का

पता लग जाता है, लेकिन वह उसे कुछ भी नहीं कहता है। नसरीन भी अपने मार्ग से भटक चुकी है और अनेक बुरे लड़कों के साथ खुली जीपों में घूमती है। लेखक ने आज की युवा पीढ़ी के भटकाव को इस प्रकार प्रस्तुत किया है। जमील ने चोरी करना सीख लिया था, लेकिन उसके चोरी करने पर असद मियां ने कभी कोई एतराज नहीं किया था। यदि असद मियां जैसे व्यक्ति अपने बेटे की चोरी करने के पाप के बारे में धमकाने की बजाय उसे सहारा देते हैं तो युवा पीढ़ी का मार्ग से भटकना स्वभाविक हो जाएगा। परिवार में ही युवा वर्ग के व्यक्तित्व के पहलुओं का विकास होता है। यदि परिवार में बच्चों के भविष्य का विचार उनके विकास के लिए अनुकूल वातावरण उपलब्ध करा दिया जाए तो बच्चे आगे चलकर उचित मार्ग-निर्देश मिलने के कारण और घर-परिवार के प्रेम और सहारे के कारण आगे बढ़ जाते हैं, लेकिन आज हमारे परिवारों में बच्चों के भविष्य का विचार न करते हुए उनकी इच्छा-आकांक्षाओं पर पानी फेर दिया जाता है। कभी-कभी बच्चों से इतनी अधिक आकांक्षा रखी जाती है कि आकांक्षाओं की पूर्ति न होने पर नाराज़गी व्यक्त की जाती है जिससे बच्चे घर- परिवार के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

'एक पारंपरिक समस्या-प्रधान कहानी' में भी आज की युवा पीढ़ी का चित्रण है। खान साहब के दोनों बेटे कोई काम-धंधा नहीं करते हैं। वे अपने मार्ग से भटक गए हैं। खान साहब उन्हें आदेश देता है कि या तो वह कोई काम-धंधा करे, वरना उनके घर में उनके लिए कोई जगह नहीं है। एक दिन खान साहब के बेटे अल्लाह वाले पर उनके खुद बहनोई ने चोरी का इल्ज़ाम लगा दिया। 'बशीर खाँ', 'मालिक मॉडर्न केनिंग आर्ट' कहानी में भी आज की युवा पीढ़ी को दिखाया गया है जो परंपरागत रोज़गार के प्रति उदासीन है। बशीर खान की दुकान पर काम करने वाले युवा भी अपने मार्ग से भटक चुके हैं। बशीर खाँ, अपनी नाराज़गी प्रकट करते हैं- 'नई काम में दिल लगता तो जाओ,गुल्ली-डंडा खेलो, याँ काए को वक्त बर्बाद करते ओ? कुछ सीख जाओगे तो कल तुम्हारे ही काम आएगा, नहीं तो ठेला धकाना"।[3]

युवा पीढ़ी का भटकाव आज एक अहम समस्या बन गई है, आज समाज के लोग अपने तक सीमित होकर रह गए हैं। बदलते जीवन-मूल्यों एवं संघर्षों ने आज परिवार को रसहीन बना दिया है। मनुष्य के समस्त आनंद, उल्लास, माधुर्य आदि समाज से धूमिल हो चुके हैं। विशेष रूप से हमारी युवा पीढ़ी। अर्थात् युवा पीढ़ी जो अपने घर- परिवार के प्रति उदासीन बने रहते हैं वे अपने पथ से भटक रहे हैं। 'बशारत मंजिल' उपन्यास का पात्र संजीदा अठारह वर्ष की आयु में ही धूम्रपान व कामुकता जैसी विसंगतियों की ओर प्रवृत हो जाता है। वह गुलबदन नाम की वेश्या के मुँह में पड़कर अपना घर बर्बाद करने में कोई कसर नहीं छोड़ता। वह अपनी इन बुराइयों के बारे में अपने मित्र से चर्चा करता है- "गुलबदन ही वह औरत है जिसे उसने बखूबी जाना है"।[4] संजीदा का कॉलेज के मित्रों के साथ शराब पीना उसके जीवन को नष्ट होने के कगार पर पहुँचा देता है। उसी प्रकार 'सूखा बरगद' उपन्यास का सुहेल भी इसी प्रकार कॉलेज पहुँचकर एक लड़की के प्रेम में पड़कर बुरी संगत में चला जाता है। वह प्रेम में असफल होने के कारण नशे का आदी हो जाता है। वह अपने इंजीनियरिंग की पढ़ाई को भी पूरा नहीं कर पाता। बार-बार फेल होता जाता है। तब उसे उसका दोस्त समझाता है- "तुम कुछ भी कहो, लेकिन तुम्हारा यह दारू का चक्कर ज़्यादा ही होने लगा है। अवे, आखिर मतलब क्या है इतने टाइम आँधे-सौंधे लोगों में बैठकर पत्ते खेलने या शराब पीने का"।[5] लेखक ने अपने उपन्यास में नशाखोरी और वेश्यावृत्ति के मार्ग पर भटक जानेवाले युवावर्ग को सचेत करने का प्रयास किया है।

वर्तमान युग में लोगों का आध्यात्मिक मूल्यों की अपेक्षा भौतिक, राजनीतिक और सामाजिक मूल्यों के प्रति अधिक झुकाव रहा है। इसी में अर्थ तथा जीवन स्तर की उच्चता को विशेष महत्व दिया जाने लगा है। कई लोग अपने संस्कारों की बलि देते समय किंचित भी संकोच नहीं करते हैं। सांस्कृतिक मानदण्डों को यदि ध्यानपूर्वक आंका जाए तो दृष्टिगोचर होता है कि आज की सभ्यता में मूल्यों का

ह्रास हुआ है। प्रत्युत उनके प्रति नव विचारधारा का निर्माण हुआ है, जो मानवता के लिए हितकर है। आज हमारे देश का युवा अधिक सचेत और तर्कशील है। वह उचित-अनुचित भले-बुरे के भेद को समझता है। वैज्ञानिक युग के कारण व्यक्ति की चिंतन-प्रक्रिया में सुधार की स्थिति आई है। प्रत्येक मान्यता या विचारधारा को करने या अपनाने से पहले वह उसे तर्क की कसौटी पर कसकर देखता है। आज हमारे समाज में व्यक्ति के नैतिक मूल्यों में गिरावट आई है। आज का मनुष्य निरंतर पतन की ओर अग्रसर हो रहा है। मंज़ूर एहतेशामजी ने अपनी कहानियों में नैतिकता के पतन को चित्रित किया है। उनकी 'सं हरिश्चन्द्र' कहानी नैतिक मूल्यों के विघटन को दर्शाती है। अपने चापलूस मित्रों से घिरा 'सं हरिश्चन्द्र' अपने अंदर मरे हुए ज़मीर को लिए हुए, भ्रष्ट वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। वही शराब अधिक पी जाने पर अपने ही मित्रों पर उसे संदेह होता है- "सं हरिश्चन्द्र को लग रहा था, सब बहुत तेज शराब पी रहे हैं। देखते ही देखते दो व्हिस्की की बोतलें निपट गई थीं और कुछ लोग व्हिस्की पीते-पीते बियर का स्विच कर गए थे। यह गलत था 'सं हरिश्चन्द्र' को अंदाज़ा है कि इतनी तेज़ शराब पीने के साथ कोई घपला ज़रूर होता है। दूसरे अंदर परीक्षा की तैयारी कर रही बच्चियों का ख्याल रह-रहकर सं हरिश्चन्द्र का ज्ञान बाँट रहा था। वैसे बच्चियाँ समझदार हैं, और फिर इस तरह की महफिल घर पर पहली बार हो नहीं रही। ख़ासकर बड़ी बेटी गुड़िया छोटी बहनों को भी संभाल लेगी"।[6] इस प्रकार के लोग अपने भ्रष्ट स्वभाव से ग्रस्त नैतिक स्तर पर पतन की ओर बढ़ चुके होते हैं। घर के बच्चों के होते हुए भी उसे शराब पीना और घृणास्पद बातें करना उनके चरित्र के घृणित रूप को दर्शाता है- "अरे यार! कभी चल भी तो, सिंह ने हंसकर कहा था। सब बीवी-बीवी भूल जाएगा"।[7] समाज में पनप रहे गैर सामाजिक संबंध भी व्यवस्था का एक स्वरूप है। लेकिन इसके अलावा एक दूसरा रूप भी है, जहाँ इस वर्ग को तिरस्कार की नज़र से देखा जाता है। हमारे समाज में आर्थिक समस्या के कारण भी व्यक्ति नैतिकता के पतन की ओर अग्रसर हो जाता है।

मध्यवर्ग के युवाओं की शिक्षा संबंधी समस्याओं में मुख्य रूप से आर्थिक चुनौतियाँ, शिक्षा के गुणवत्ता में कमी और सामाजिक दबाव शामिल है। आर्थिक रूप से बढ़ती शिक्षा की लागत, कम छात्रवृत्ति और रोज़गार की कमी से भी उन्हें जूझना पड़ता है। शिक्षा के गुणवत्ता में कमी और असमानता भी एक बड़ी समस्या है क्योंकि कई युवाओं को अच्छे स्कूल और कॉलेज में प्रवेश करने का अवसर भी कठिनाई से प्राप्त होता है। पारिवारिक दबाव और सामाजिक अपेक्षाएँ भी युवाओं को सही शिक्षा और व्यवसाय चुनने में असमर्थ बनती हैं। कुछ युवा पारिवारिक तनाव, सामाजिक अपेक्षाएँ एवं शारीरिक शोषण के दबाव में आत्महत्या जैसे गलत कदम भी उठा लेते हैं। 'दास्तान-ए-लापता' में अनीसा एक ऐसी पात्र है जिसकी गलती यह थी कि वह बेसहारा और यतीम थी। हालांकि उसके मामी और मामा तो उसका पालन-पोषण करते हैं लेकिन वह लगातार उसके मामा द्वारा शारीरिक शोषण का शिकार होती है। अपने पालन-पोषण की कीमत उसे अपने शरीर के शोषण से चुकानी पड़ती है। इस कारण वह शराब और सिगरेट पीने की आदि भी बन जाती है। ज़मीर भी उसके प्यार को स्वीकार नहीं कर पाता है तो अंत में आत्महत्या कर लेती है। मंज़ूर जी ने अनीसा के माध्यम से ऐसी स्त्रियों की दयनीय स्थिति का चित्रण किया है जिनका लगातार शोषण होता ही रहता है। कभी गैरों द्वारा बलात्कार या कहीं अपने ही घर के संबंधियों से शारीरिक अत्याचार। इसलिए न चाहते हुए भी वह खुद के जीवन को समाप्त कर देती है। अनीसा जैसी सुशिक्षित युवती शारीरिक शोषण का शिकार बनती है। वह अपने दुख को इस तरह बयां करती है- "मैं मामू के टुकड़ों पर पल रही थी। मेरी पढ़ाई

लिखाई कपड़े आदि का खर्च वह उठा रहा था, तो मेरा इतना दोहन करने का अधिकार भी उसका बनता था। पूरे तेरह साल मैं मामू के साथ रही और उनका एहसान उतारने के लिए उन्होंने जब भी बुलाया मैं बिना चूं-चा किए उनके पास चली गई"।[8]

मध्यवर्ग की सबसे प्रमुख समस्या आर्थिक है। मध्य वर्ग सुविधाओं में जीना चाहता है, लेकिन आर्थिक परिस्थितियाँ इसके लिए इज़ाज़त नहीं देती हैं। इसलिए उनके खाते पीते परिवार को प्राय है अर्थाभाव का एहसास होता है। 'सूखा बरगद' उपन्यास में रशीदा का साइंस छोड़कर आर्ट्स में दाखिला लेना भी एक मध्यवर्गीय मज़बूरी के तहत है। इस मज़बूरी को आधार बनाकर रशीदा ने अपनी हैसियत को जिस प्रकार से रेखांकित किया है, वह मध्य वर्ग की नियति है। थोड़ा सा धन और सुविधाएँ होने ना होने से मध्यवर्ग का वर्ग चरित्र बदल जाता है। कल्लो और कुसुम से तुलना करते हुए रशीदा का सोचना सही लगता है- "मैं सोचती हूँ जहाँ मैं थी वहाँ से कल्लो या कुसुम तक बराबर की ही दूरी थी। आसपास की थोड़ी सी चीज़ ना होती तो मैं भी कल्लो हो जाती, अबू दादा की गालियाँ सुनती भैंस के आगे चारा डालती, या कुछ और थोड़ा सा होता तो कुसुम लड़कों से फ्लर्ट करती"।[9] उपन्यास के अंत में यह देखकर अच्छा लगता है कि वह अपने शर्तों पर जीने वाली कामकाजी महिला का जीवन बिता रही है। आज का मध्यवर्गीय युवा वर्ग कठिन परिश्रम और शिक्षा के ज़रिए अपने करियर बनाने के साथ-साथ बेहतर इंसान बनने के प्रति भी सचेत है।

वैवाहिक पद्धति के संबंध में जाति बंधन के साथ भी धर्म को भी उखाड़ फेंका है। अलग-अलग धर्म के युवक-युवतियाँ दाम्पत्य बंधन में बंध जाती हैं। इस विवाह का आधार सिर्फ प्रेम होता है। अंतर धर्मावलंबी विवाह से सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलता है। मंज़ूर जी ने अपने 'कौम' कहानी के माध्यम से अंतर-धर्म विवाह को प्रस्तुत किया है। इस कहानी में बासित मुसलमान लड़का है और वह पदमा नाम की हिंदू लड़की से प्रेम करता है और वह विवाह भी करना चाहता है लेकिन यही धर्म और संप्रदाय दोनों के बीच बाधा बन जाता है। फिर भी वे धर्म और संप्रदाय की परवाह किए बगैर एक दूसरे से शादी कर लेते हैं। वह अपने परिवार और समाज से दुश्मनी मोल लेते हैं। लड़की की शादी के बाद उसके माता-पिता ही नहीं, परिवार के अन्य सदस्यों को भी कष्ट झेलना पड़ता है। उनके परिवार की बाकी बची हुई लड़कियों का रिश्ता भी नहीं हो पाता है। सलीम फरीदा से कहता है कि तुमने सोचा है कि तुम्हारे अन्तरधर्म विवाह करने के बाद तुम्हारी बहनों का क्या होगा? तुम किसी मालदार घराने की भी नहीं कि तुम्हारी परवाह किए बगैर तुम्हारी बहनों के लिए कोई रिश्ता भेजें। तुम्हारी बहनों को भी अच्छा शौहर मिल पाए। लेखक समाज के स्वरूप को इस प्रकार व्यक्त करता है कि आज का युवा वर्ग जाति, धर्म आदि के भेदभाव को भुलाकर भाईचारे की भावना को बढ़ावा देते हैं जो राष्ट्रीय एकता और विकास को कायम रखने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

निष्कर्ष- मंज़ूर एहतेशामजी ने मध्यवर्गीय समाज के युवावर्ग को अपनी रचनाओं में प्रमुख स्थान दिया है और उनके संघर्षों एवं समस्याओं का बखूबी चित्रण किया है। आज का युवा वर्ग पुरानी मान्यताओं और अंधविश्वासों से बाहर निकलकर प्रगतिशील सोच और उच्च शिक्षा के बल पर आगे बढ़ने में विश्वास करता है। इसी के साथ कुछ युवा नशाखोरी, शराब सेवन आदि समस्याओं में घिर जाते हैं जो उन्हें रास्ते से पथभ्रष्ट करती हैं। राजनीति भी इसमें एक प्रमुख भूमिका निभाती है। आज विश्वविद्यालय जो विद्या देवी या सरस्वती देवी का पवित्र मंदिर माना जाता है, भ्रष्ट राजनीति का केंद्र बन चुका है। होनहार छात्र भी राजनीति का शिकार हो जाता है। आज का मध्यवर्गीय युवा-वर्ग कठिन परिश्रम और शिक्षा के ज़रिए अपने करियर बनाने के साथ-साथ बेहतर इंसान बनने के प्रति भी सचेत है।

संदर्भः

1. मंज़ूर एहतेशाम, सम्पूर्ण कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2019; पृ: 28
2. वही, पृ: 290
3. वही, पृ: 51

4. मंज़ूर एहतेशाम, बशारत मंजिल, राजकमल प्रकाशन, 2012; पृ: 95
5. वही, पृ: 44
6. मंज़ूर एहतेशाम, सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ:70
7. वही पृ: 68
8. मंज़ूर एहतेशाम, दास्तान ए लापता, राजकमल प्रकाशन, 2010; पृ: 15
9. मंज़ूर एहतेशाम, सूखा बरगद, राजकमल प्रकाशन, 2014; पृ: 53

◆ सहायक आचार्य
हिंदी विभाग, यूनिवेर्सिटी कॉलेज
तिरुवनंतपुरम-695304, केरल।
मोब: 7356108164
ई .मेल:shameemriyas78@gmail.com

न्याय की दहलीज़ पर ज़िंदगी और 'महाभियोग' उपन्यास का यथार्थ

◆डॉ. पंकज कुमार सिंह

अंजली देशपांडे द्वारा लिखित उपन्यास 'महाभियोग' भोपाल गैस कांड के पीड़ितों का भारतीय न्याय व्यवस्था के चक्रव्यूह में फँसने, राजनीतिक एवं प्रशासनिक दाव-पेंचों में उलझने तथा न्यायविदों पर महाभियोग लगाये जाने की असफल कोशिशों की दारुण कहानी है। इस औपन्यासिक यात्रा में अंजली भोपाल गैस की त्रासदी झेलने वाले लोगों को न्याय के दहलीज़ पर कुर्बान होते हुए देखती हैं और उस घटना को अनन्तर कथा के ज़रिए 'महाभियोग' उपन्यास में उभारती है। ध्यातव्य हो कि 2 दिसम्बर 1984 की रात भोपाल स्थित यूनियन कार्बाइड इंडिया लिमिटेड से मेथाइल आइसो साइनेट (MIC) गैस का रिसाव हुआ था, जिसने भोपाल शहर को मौत की घाटी में बदल दिया था। इस विभीषिका पर अर्चना वर्मा लिखती हैं-"उस दिन दूरदर्शन के पर्दे पर बहुत सुबह-सुबह के पहले बुलेटिन में भोपाल के गरीब हिस्से के आधे शहर के घरों में, बरामदों में, सड़कों पर बैठे, पसरे, टिके-खड़े, लेटे, अधलेटे लोगों को देखा था, जैसे सब के सब उन्हीं मुद्राओं में सो गए हों। और ख़बर थी कि वे मर चुके हैं।"[1]

इस औद्योगिक त्रासदी ने हज़ारों लोगों को मौत के आगोश में ले लिया था, जो किसी तरह अपनी जान बचाने में सफल भी हुए तो वे लोग बुरी तरह इस विभीषिका के झेलने के लिए अभिशप्त हुए। आज भी उन इलाकों में इस त्रासदी की विरासत देखने को मिल जाती हैं- "उस रात के बाद बची-खुची ज़िंदगी में सब कुछ बदल गया। जिनकी ज़िंदगी ज्यादा बची थी, वे सबसे बदकिस्मत साबित हुए... मेरी आँखों में अब सिर्फ आँसू तैरते हैं। पुराने जख्मों को याद करके कम और गैस के असर से ज्यादा।"[2] यहाँ 35 वर्षों बाद भी नवजात अपंगता का दंश लिए इस दुनिया में आते हैं। ज्ञात हो कि भोपाल गैस कांड की ज़िम्मेदार 'यूनियन कार्बाइड इंडिया लिमिटेड' थी जिसमें 50 फीसदी हिस्सेदारी भारत सरकार की एवं 50 फीसदी हिस्सेदारी अमेरिकी कम्पनी 'यूनियन कार्बाइड कॉर्पोरेशन' की थी और बकौल उपन्यास"काबाईड मैनहटन प्रोजेक्ट से भी जुड़ा था। उस प्रोजेक्ट से जिसने परमाणु बम बनाया।"[3]

'महाभियोग' उपन्यास भोपाल गैस त्रासदी के बाद पीड़ितों के प्रति प्रशासनिक लापरवाही, समुचित चिकित्सकीय सेवा का अभाव, भारतीय न्यायपालिका के हास्यास्पद व अन्यायपूर्ण फैसले, आंदोलन में NGOs की भूमिका को उजागर करता है। इन तमाम सरकारी संस्थाओं एवं प्राइवेट अभिकरणों ने भोपाल गैस के पीड़ितों पर अपनी संवेदना के आँसू तो बहाए। लेकिन यह भी सच है कि ये कार्बाइड की मदद भी कर रहे थे। उपन्यास के पात्र अविधा को

लगता है-"सरकार ने कार्बाइड के खिलाफ सबूतों को धुँधला करने, मिटाने, विकृत करने और उनकी अनदेखी करने में जितनी तत्परता दिखाई थी, उसकी आधी भी उसने गैस पीड़ितों के समुचित इलाज पर विचार करने में दिखाई होती तो शायद उनकी पीड़ा कम हो गई होती। न उनके केस का रिकार्ड ठीक से रखे गए, न रोग निदान ठीक से किया गया, न हर पर्ची पर गैस पीड़ित का ठप्पा लगाया, न फौरी इलाज और उसके नतीजों का दस्तावेज तैयार किया गया।

कितना परिष्कृत था गुनाह के मिटाने का यह काम।"[4]

उपन्यास को पढ़ने के बाद संदेह की गुंजाइश ही नहीं रह जाती कि पूरे सरकारी तंत्रों ने तत्परता से गुनाह के सबूत मिटाए थे, लेकिन यहाँ यह भी ध्यातव्य हो कि भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने उससे भी तेज़ी दिखाते हुए इसके मुकदमे पर अपना फैसला सुनाया था। सर्वोच्च न्यायालय के फैसले से असहमति जताते हुए दिल्ली में कुछ बुद्धिजीवियों ने एक संस्था का गठन किया, जिसे Friends of Bhopal अर्थात् फॉब कहा गया। फॉब की सक्रिय कार्यकर्ता एवं पेशे से वकील मुक्ता अपने वक्तव्य में सर्वोच्च न्यायालय पर निशाना साधते हुए कहती हैं-"14 फरवरी 1989 भारत के न्यायपालिका के इतिहास का सबसे कलुषित दिन था। उस दिन सुप्रीम कोर्ट ने भोपाल के मामले में जो समझौता किया या कराया, उसकी हर तरफ निंदा हुई है। भोपाल के गैस प्रभावित बेहद नाराज़ हैं कि इतने महत्त्व के मामले में कोर्ट ने उनसे राय भी नहीं ली। और उनके ही नहीं, उनके अजन्मे बच्चों के हक भी एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी के हाथों कुछ टकों के लिए बेच दी।"[5]

माननीय उच्चतम न्यायालय ने इसे अपना अंतिम फैसला बताया, जिसके बाद यूनियन कार्बाइड के खिलाफ़ सभी आपराधिक मामले खारिज़ कर दिए गए। अब इस फैसले के खिलाफ़ न तो कोई अपील हो सकती थी और न ही किसी असंतोष की सुनवाई। इसमें फॉब के कार्यकर्ताओं ने उच्चतम न्यायालय के उन न्यायाधीशों के खिलाफ़ 'महाभियोग' प्रस्ताव की माँग कर दी। 'महाभियोग' प्रस्ताव के लिए संसद सदस्यों के बहुमत की आवश्यकता थी, लेकिन इस घटना के क्रम में सांसदों की सहानुभूति तो यत्र-त्रत देखने को मिल जाती थी, लेकिन कोई भी सांसद प्रत्यक्षतः 'महाभियोग' प्रस्ताव का समर्थन नहीं कर रहा था। इस प्रसंग में अनायास ही प्रो. थापड़ की बात याद आती है-"किस पर महाभियोग लगाओगी तुम, मुक्ता? उन राजनीतिज्ञों और अधिकारियों पर जिनको कार्बाइड ने पैसा दिया? जानती हो, कितने राजनीतिज्ञों की बीबियों ने न्यूयार्क में शापिंग की जिनके बिल कार्बाइड ने भरे? क्या उन अधिकारियों पर महाभियोग लगाओगी जो उस फैक्ट्री के भीतर गए निरीक्षण के लिए और हर खराब मीटर, हर बिगड़े गेज को दुरुस्त लिखने के लिए उन्होंने मोटी रकम ली?"[6]

'महाभियोग' उपन्यास में डॉ.प्रसाद का भी जिक्र आता है जो हामीदिया अस्पताल में फोरेंसिक विभाग के अध्यक्ष हैं। वे गैस रिसाव के महज कुछ घण्टों में बता देते हैं कि 'साइनाइड' ही लोगों की जान ले रहा है। विदित हो कि अर्चना वर्मा ने 'ताकी सनद रहे' शीर्षक के अंदर डॉ. हीरेशचंद्र का जिक्र किया है, जिन्होंने भोपाल गैस त्रासदी के बाद आनन-फानन में 200 से अधिक मुर्दों का पोस्ट-मॉर्टम किया था। संभव है कि उपन्यास में आए डॉ. प्रसाद, डॉ. हीरेशचंद्र के ही औपन्यासिक प्रतिरूप हों। खैर, डॉ. हीरेशचंद्र ने जितने लोगों के शारीरिक परीक्षण किए थे, उनमें से सभी की मृत्यु के कारण समान थे। उनका निष्कर्ष बकौल अर्चना वर्मा था कि-"बहुराष्ट्रीय यूनियन कार्बाइड कॉर्पोरेशन (यूएसए) भविष्य में होने वाले किसी जैविक युद्ध की तैयारी में भारतीयों के साथ कोई खतरनाक रासायनिक प्रयोग कर रही थी। उन्होंने पोस्ट-मार्टम रक्त और टैंक में बची तलहट की जाँच पड़ताल में हिस्सा लिया था। दोनों में सर्वाधिक

ख़तरनाक रसायन फॉस्जीन और साइनाइट पाए गए थे। गैस पीड़ितों के रक्त में भी ये मौजूद थे हालांकि इन रसायनों के उस प्लांट में मौजूद होने का कोई कारण नहीं था जिसका काम सिर्फ़ कीटनाशकों का निर्माण करना था"[7]

स्पष्ट है कि यूनियन कार्बाइड कॉर्पोरेशन कीटनाशक बनाने की आड़ लिए फॉस्जीन और साइनाइड जैसी गैसों का प्रयोग कर रहे थे। खैर, उपन्यास में जब डॉ. प्रसाद इन तथ्यों का रहस्योद्घाटन कर रहे थे तभी उसी समय मेडिसीन विभाग के प्रमुख डॉ. नरेन्द्र शुक्ल को लगता है कि "वह तो मुर्दों का डॉक्टर है। बीमारी क्या है, इलाज क्या है, यह बताना उनका काम नहीं है, हमारा काम है।"[8]

डॉ. नरेन्द्र शुक्ल लोगों के साइनाइट से मरे होने की बात सिरे से खारिज़ कर देते हैं। उनका विचार है कि जो लोग मरे थे वे पहले से ही गंभीर बीमारी से पीड़ित थे। कुपोषण और टीबी जैसे रोगों ने उनकी ज़िंदगी ली है, अकेले साइनाइड ने थोड़ी ली है। आगे जब डॉ. चंद्रेश प्रसाद मुर्दों के उत्तकों के नमूने दिल्ली परीक्षण हेतु भेजते हैं तो रिपोर्ट में साइनाइट के होने की पुष्टि तक नहीं की जाती है। हैरत है कि उनके पूछने पर प्रयोगशाला में स्थित वैज्ञानिक बताते भी हैं कि साइनाइट की उपस्थिति तो थी, लेकिन उसकी मात्रा कम थी और इसीलिए उन्होंने अपनी रिपोर्ट में उसे जगह देना उचित नहीं समझा। यहाँ पूरा का पूरा तंत्र ही यूनियन कार्बाइड के साथ खड़ा था। लेकिन किसी ने भी डॉ.प्रसाद की बात को गंभीरता से नहीं लिया जबकि उपन्यासकार का विश्वास है कि "एक अकेला व्यक्ति भी कभी-कभी बिल्कुल सही हो सकता है। यही विज्ञान है। बहुमत का सच राजनीति है, विज्ञान नहीं।"[9]

ऐसी ही दोयम दर्जे की राजनीति ने भोपाल के पीड़ितों के दुःख को दोगुना कर दिया। जो संगठन इनके लिए सहानुभूति रखते थे उनमें भी अपने हितों के लिए बार-बार टकराहटें होती थीं। 'महाभियोग' उपन्यास में ऐसे ही एक संगठन, जिसे फॉब कहा गया है, का जिक्र है। इस संगठन से जुड़े जो भी लोग हैं चाहें वो मुक्ता हो, अविधा हो, विनीता हो, सुगुणा या फिर अजीत हो, सभी पात्र अपने निजी जीवन में अन्तर्विरोधों और संघर्षों से जूझते दिखाई पड़ते हैं। आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की खाई कम नहीं हो सकी है। लेकिन उपन्यासकार अंजली देशपांडे ने इस संगठन के माध्यम से ही इन पात्रों की मनःस्थिति का एकदम सटीक वर्णन किया है। पुरुषवादी सोच पर जहाँ भी उन्हें अवकाश मिला है उस दंभ को मटियामेट करने के वे अवसर नहीं चूकती हैं। अविधा, विनीता, मुक्ता, निर्मला के सहारे अंजली पुरूषवादी समाज को यह बताने में सफल भी होती हैं कि अब स्त्रियाँ आदर्श गृहिणी बनने के बजाय अपने अस्तित्व में पूर्ण हैं और स्वच्छंदतापूर्वक अपना जीवन जी सकती हैं। तमाम विधाओं से मुक्त अविधा अपने परिवार के बगैर अकेले जीना पसंद करती है। उसे शादीशुदा प्रशांत से प्रेम होता है। बगैर शादी के बंधन में बंधे वह प्रशांत के साहचर्य से पुत्री को जन्म देती है और समाज की रूढ़ियों को तोड़ती है। प्रशांत के मना करने के बावजूद वह जिस आत्मविश्वास से इस ओर बढ़ती है ऐसी क्षमता अंजली के पात्रों में ही हो सकती है। विनीता और मुक्ता के बीच समलैंगिक संबंध भी बनते हैं जिसे आम तौर पर भारतीय समाज मान्यता नहीं देता। लेकिन 'महाभियोग' में चित्रित यही यथार्थ है कि यहाँ लिंगभेद को स्पष्ट रेखांकित करते हुए भी समाज में लैंगिक भेद पर सवाल उठाए गए हैं।

अपने आंतरिक जीवन में सामाजिक रूढ़ियों एवं वर्जनाओं से टकराते हुए भी अंजली के पात्र 14 फरवरी 1989 के उच्चतम न्यायालय के फैसले के खिलाफ एक मंच पर आकर विरोध प्रदर्शनों में शामिल होते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अंजली देशपांडे का 'महाभियोग' उपन्यास भोपाल गैस त्रासदी के बाद उच्चतम न्यायालय के फैसले से असंतुष्ट एवं आहत उन बुद्धिजीवियों के संघर्ष की कहानी है, जिन्हें लगता है कि भोपाल के पीड़ितों के साथ न्याय नहीं हुआ है। इन पीड़ितों की ज़िंदगी

भारतीय न्याय-व्यवस्था की दहलीज़ पर दम तोड़ देती है। उपन्यास उनकी छटपटाहटों एवं उनके साथ मौके-बेमौके हुए छल-प्रपंचों को उद्घाटित करने में सफल रहा है। पीड़ित पक्ष की ओर से दिल्ली स्थित NGOs की पूँजीवादी व्यवस्था में बिकने एवं उनके आंदोलन को कमज़ोर करने की भी बात अत्यन्त प्रभावशाली तरीके से उठायी गई है। यहाँ आलोचक सौरभ शेखर को उद्घाटित करके अपने मर्म को समझाया जा सकता है- "लोकतंत्र संविधान, न्याय और प्रभुसत्ता के तमाम दावों की बहुराष्ट्रीय पूँजी की ताकत के आगे किस तरह चिंदियाँ उड़ जाती हैं, भोपाल गैस कांड से बड़ी इसकी कोई नज़ीर नहीं है।"[10]

संदर्भ सूची

1.अंजली देशपांडे, महाभियोग, पृष्ठ 7,राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2016

2 विजय मनोहर तिवारी, भोपाल गैस त्रासदी : आधी रात का सच, पृष्ठ 273-74, बेन्तेन बुक्स, प्र. सं. 2010

3.अंजली देशपांडे, महाभियोग, पृष्ठ 140,राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. 2016

4.वही, पृष्ठ 95-96

5.वही, पृष्ठ 144

6.पृष्ठ 277-78

7.वही, पृष्ठ 12

8.वही, पृष्ठ 90

9.वही, पृष्ठ 94

10.सं. हरिनारायण, पृष्ठ 93, नवम्बर 2016

◆सहायक प्राध्यापक (अतिथि), एनसीवेब,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
मो. 8130796460

डॉ. नगेन्द्र की आलोचना में प्रगतिशील मूल्य

◆डॉ. सुशीला

शोध-सार:- डॉ. नगेन्द्र ने अंग्रेज़ी साहित्य के संस्कारों को आत्मसात करके हिन्दी साहित्य में साहित्य का कार्य प्रारम्भ करके आलोचना के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया। इसलिए साहित्य के संबंध में डा. नगेन्द्र की मूल धारणाओं का मूल आधार अंग्रेजी साहित्य के कवियों और आलोचकों की मान्यताओं से प्रेरित है। वे उच्चत्तर हिंदी अध्ययन शोध कार्य एवं समीक्षा के क्षेत्र में अपनी अमिट छाप छोड़ी विद्वता के प्रतिमान हैं। संस्कृत के आचार्यों में भट्टनायक और अभिनव गुप्त से, हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से विशेष रुप से प्रभावित हुए। प्रायः सभी काव्य-दृष्टियों के समन्वित प्रभाव के आधार पर विकसित और सुसस्ंकृत करते रहने के बावजूद डॉ. नगेन्द्र की 'रस सिद्वांत' के प्रति अपनी आस्था थी। डॉ. नगेन्द्र ने पश्चिमी अवधारणाओं से अधिक प्रभावित रहे, परन्तु भारतीय जीवन-मूल्यों के अनुरूप ही ढलकर आत्मसात किया।

बीज शब्द:- प्रगतिशील, मूल्य, आलोचना युगानुकूल, परिमार्जन प्रस्तुतीकरण, मानवीय जागरुकता, संवेदनशीलता, सौंदर्य आनन्द, व्याप्ति।

डॉ. नगेन्द्र की आलोचना पद्धति को आचार्य शुक्ल की पद्धति का विकसित रूप कहा जा सकता है। वे रस सिद्वांत को युगानुकूल व्याप्ति देना चाहते हैं तथा विकसित जीवन-मूल्यों के साथ शास्त्रीय सीमाओं को भी विकसित देखना चाहते थे। डॉ. निर्मला जैन के शब्दों में - स्वभाव से डॉ. नगेन्द्र विरोध सहने के आदी नहीं थे। वे अपने विरोधियों से डटकर लोहा लेते हैं, पर विरोध की संभावना और उपस्थिति को कभी नकारा नहीं। वे आंतरिक रुप से अत्यंत मानवीय कोमल स्वभाव के थे। "चिरकाल से उपेक्षित कवि व्यक्तित्व की ओर डॉ. नगेन्द्र ही पहले-पहल आकृष्ट हुए और इसी आधार पर उन्होंने कवि की अनुभूति के साधारणीकरण को महत्त्व प्रदान किया, साथ ही कवि तथा सहृय दोनों में ही रस की स्थिति मानी। रस शब्द

का अर्थ विकास .कामसूत्र से लेकर आनन्द के रुप में किया।"1। "वे शास्त्रीय इन अर्थों में थे कि प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र का परिमार्जन एवं प्रस्तुतीकरण उन्होंने अधिक किया, आधुनिक इन अर्थों में कि उन्होंने नवीन प्रश्नों और नवीन उपलब्धियों के प्रति अधिक जागरुकता दिखाई"।[2]"इन्होंने शास्त्रीय विषयों को ऐसी स्वच्छ शैली के साथ हाथ लगाया कि उनके विरोधी समीक्षक भी उनके सिद्वांतों की तरफ आकृष्ट हुए बिना न रह सके तथा उनकी भूरी-भूरी प्रशंसा की। उनकी समीक्षा में न्यूनाधिक मात्रा में तीन तत्त्वों ने योग दिया- संस्कृत काव्यशास्त्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र और युग सचेष्ट अन्तर्दृष्टि। भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणीकरण के सिद्वांत को वे मानव मूल्यों की स्वीकृति का सिद्वांत ही मानते हैं।[3] "डॉ. नगेन्द्र ने शास्त्रों के अध्ययन में जड़ ज्ञान की प्राप्ति का साधन न बनाकर उसे काव्य भाव के भीतर निहित अनुभूतिमूलक एकता की खोज का साधन बनाया, किन्तु लेखक की ओर से अपनी बात शास्त्र के भीतर से खींची गई है"।[4] "जन्हा इनकी शास्त्र चर्चा में शास्त्रीय दृष्टि पारिभाषिकता प्राप्त होती है, वहीं एक सौंदर्य खोजी दृष्टि का लालित्य और अपनापन भी दिखाई पड़ता है। सौंदर्य को मूल्य मानते हुए क्या महत्त्व देते हुए पंत के भाव जगत की निर्माण शक्तियों पर विचार करते समय वे पंत काव्य में ऐन्द्रियता को सौंदर्य उपासना का एक गुण मानते हैं। वे जीवनप्रद सौंदर्य को ही सौंदर्य की कोटि में स्थान देते हैं, जो वासना रहित है। भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका में उन्होंने सौंदर्य को निरपेक्ष स्वतंत्र मूल्य मानने से इंकार किया है और कहा है- स्वतंत्र मूल्य होने पर भी सौंदर्य की सत्ता निरपेक्ष नहीं है, वह जीवन के अन्य बृहत्तर मूल्यों के साथ नैतिक मूल्यों, सामाजिक मूल्यों के साथ पुरुषार्थ का आध्यात्मिक तथा अनिवार्य रुप से संबंध है"।[5] "वास्तव में सौंदर्य काव्य -कला का काव्य आन्तिरिक मूल्य है, परन्तु जीवन के व्यापक परिवेश के साथ संबंध होने के लिए उसे अन्य बृहत्तर मूल्यों के साथ जुड़ना ही पड़ता है।

सौंदर्य कला का पर्याय है, जिसमें कल्याण की शक्ति होती है। 'नयी समीक्षा नये संदर्भ' में डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं"- "छायावादी कवि नारी के अंगों की मांसलता के प्रति आकृष्ट न होकर उसके मन और आत्मा के सौंदर्य पर मुग्ध होता है, वह रूप के माध्यम से अभिव्यक्त उसके हृदय के माधुर्य को अनावृत्त करता है"।6" सौंदर्यानुभूति व्यक्ति को गतिशील, क्रियाशील, चिन्तनशील, संवेदनशील तथा मननशील एवं कल्पनाशील बनाती है। डॉ. नगेन्द्र सांमजस्य के स्वामी हैं, विघटन के दुश्मन हैं, लगाव का सहयोगी और अलगाव का विरोधी हैं।"[7] "छायावाद के प्रति डॉ. नगेन्द्र की दृष्टि उन्हें प्रगतिशील मूल्यों के प्रति जागरूक सिद्व करती है। साकेत एक अध्ययन में उर्मिला का विरह सूर की गोपियों के विरह से भिन्न है। उर्मिला द्वारा दूसरों के दुःखों का भी ध्यान रखना गांधीवादी विचारों का प्रभाव है। इसी प्रकार कैकेयी के चरित्र का जो उज्जवलीकरण किया गया है, उस पर गाँधी जी का विचार पाप से घृणा करो किन्तु पापी से प्रेम। सिद्वांत का प्रभाव दिखाई पड़ता है"[8] "डॉ. नगेन्द्र इस स्थिति पर क्षोभ व्यक्त करते हैं कि भारतीय साहित्य में रीतिकाल की भाँति हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल भी अत्यंत अभिशप्त काल माना गया है। रीतिकाल की भूमिका, देव और उनकी कविता रीतिकाव्य को प्रतिष्ठित करने के लिए ही लिखी गयी। वे मानते हैं कि रीतिकाव्य सामाजिक चेतना की दृष्टि से कमज़ोर है, उसकी काव्य वस्तु भी एक सीमित क्षेत्र से बाहर व्यापक संसार में किसी रुचि का प्रमाण नहीं देता, लेकिन कवियों को निश्छल आत्माभिव्यक्ति द्वारा जिस परिष्कृत आनंद की सृष्टि यह काव्य करता है, उसकी उपेक्षा करना गलत है। नैतिक और सामाजिक मूल्यों से अलग इस आनन्द और सौंदर्य की जो सृष्टि करता है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन कवियों का शास्त्र-ज्ञान और लोकानुभव दोनों खूब समृद्व हैं।"[9]

डॉ. नगेन्द्र का मानना है कि जीवन के उदात्त आदर्शों के प्रति अपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाने के कारण

प्रगतिवाद उतना अधिक सफल नहीं हो सका, जितने की आशा थी। 'प्रगति' का साधारण अर्थ है आगे बढ़ना, जो साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो। वही प्रगतिशील साहित्य है। इस दृष्टि से तुलसीदास सबसे बड़े प्रगतिशील साहित्यकार हैं। भारतेन्दु बाबू और मैथिलीशरण गुप्त भी इस अर्थ में प्रगतिशील साहित्यकार हैं। परन्तु आज का प्रगतिवादी इनमें से किसी को भी प्रगतिशील नहीं मानेगा। ये सभी तो उसके मतानुसार प्रतिक्रियावादी लेखक हैं।''[10] प्रगतिवादी का वर्ण्य विषय 'जीवन कैसा है' तक ही रहा, 'जीवन कैसा होना चाहिए' तक उसकी दृष्टि नहीं गई। डॉ. नगेन्द्र को प्रगति पसंद है, पर वह जो वर्ग चेतना से ऊपर होती है, जो राजनीतिक पार्टी की विचारधारा के सीमित दायरे से ऊपर होती है। दूसरी तरफ वे इस मूल्य को भी अस्वीकार नही करते कि प्रगतिवादी काव्यधारा सर्वत्र दलित वर्ग की सहानुभूति के प्रवाह में विचरित होती रही, यथार्थ उसका श्वास रहा। आनंद की नई व्याख्या पाते हुए हम डॉ. नगेन्द्र में प्रगतिशील मूल्यों को पुष्ट होते हुए देखते हैं। आनंद को वे काव्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार करते हैं, निष्प्रयोजन कम तो नहीं होगा, जो निरर्थक होगा। ''धन, यश और प्रचार ये सब स्थूल प्रयोजन हैं। आनंद के समान्तर वे लोक कल्याण और चेतना प्रयोजन को भी विचारणीय मानते हैं। लोक हित को प्रयोजन मानकर चलने वाला साहित्यकार लोक में अपने स्व का विस्तार करके आनंद लाभ ही प्राप्त करता है।''[11] ''वह आत्मनःकामायः लोक कल्याण से ही अनुरक्त होता है। इसी प्रकार चेतना के परिष्कार की परिणति भी आनंद की अनुभूति में ही होती है। काव्य के आस्वाद का आनंद रसानुभूति का ही आनंद है। काव्य-मूल्यों के सम्बंध में डॉ. नगेन्द्र का मानना है कि काव्य-मूल्य का अर्थ है: वह गुण या दोष, समुदाय जिसके द्वारा काव्य की सिद्रि का निर्धारण किया जाता है, वह गुण इस दृष्टि से मूल्य का आधार है। अतः प्रयोजन ही सिद्ध होता है। जिस काव्य में रागात्मकता आस्वाद प्रदान करने की क्षमता जितनी अधिक होगी उतना ही उसका मूल्य होगा। उन्होंने आनंद ओर कल्याण को अभिन्न दिखलाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार आनंद कोई सार्वजनिक वस्तु नहीं है।''[12] ''लेखक की आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत आनंद प्राप्त होता है, उसका नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से स्वतंत्र भी एक महत्त्व है। सामाजिक दायित्व के निर्वाह में यदि लेखक त्रुटि करता है तो वह नैतिक रूप से अपराधी है। डॉ. नगेन्द्र ने साहित्य में मूल्यों की बहुत चिंता नहीं की है, उनके मत से काव्यानंद में ही मूल्य पर्यवसित हो जाते हैं'' डॉ. नगेन्द्र आनंद को सभी रसों से अनिवार्य मानते हैं। ''परिष्कृत आनंद जीवन में रस उत्पन्न करता है। इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है, इसका अनुमान लगाना आज कठिन है।''[13]

''मानवता की प्रेरणा से ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया अथवा संस्कृति, विज्ञान और राजनीति में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। रस सिद्वांत में डॉ. नगेन्द्र ने लिया है जीवन की निरन्तर विकासशील धारणाओं और आवश्यकताओं का आंकलन मानवतावाद में ही हो सकता है। जीवन की भूमिका में जब तक मानवता से महत्तर सत्य का आविर्भाव नहीं होता और साहित्य की भूमिका में तब तक मानव संवेदना से अधिक प्रभावित सिद्धांत की प्रकल्पना भी नहीं हो सकती।''[14] उन्होंने लोकमंगल और लोकहित को भी मानवतावाद के साथ संबंध किया है।[15] ''नगेन्द्र की दृष्टि मानवतावादी है, इस बात से भी पता चलता है कि प्रेमचंद जीवन के मुख्य तत्त्व थे। मानवतावाद मानते हैं और उसकी व्यापक सहानुभूति की प्रशंसा करते हैं। प्रेमचंद पराधीन भारत के पूरे शोषण चक्र का चित्रण करते हैं जिसमें उनके व्यक्तित्व का मानव पक्ष अत्यंत विकसित जनता, गाँव के अनपढ़ और भोले-किसान और शहर के शोषित मज़दूर निम्न वर्ग व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके विशेष स्नेह भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्राणी भी उच्च वर्ग के राजा उद्योगपति,

ज़मींदार और मध्यवर्ग के व्यवसायी, नौकरी, पेशा, लोग समाज के पुराणपंथी, पंडित, पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वंचित नहीं थे।"[16] प्रेमचंद की दृष्टि मानव के सभी भेदों से मुक्त भी कहकर नगेंद्र ने अपनी मानवतावादी दृष्टि का अधिक परिचय दिया है जिसमें शोषित वर्ग संगठित होकर शोषक वर्ग को सत्ता से उखाड़ फेंकता है। इसे उन्होंने मानव के प्रति मानव का घृणित संघर्ष कहा है। डॉ. नगेन्द्र का योगदान मुख्यतः नई बातें उद्घाटित करने में उतना नहीं है, जितना उद्घाटित बातों को ही अधिक सघनता और संगति से विश्लेषित करने में तथा नई समझदारी से कृतियों का विवेचन करने में है।

इनके अनुसार रस आज के साहित्य के मूल्यांकन के लिए पर्याप्त और समर्थ है, किन्तु रस को रुढ़ रूप में न लेकर विकासमान रूप में लेने की आवश्यकता है। मूल्यों को वे देश-कालबद्ध और परिवर्तनशील मानते हैं। उनका विश्वास है कि मानवता, मानव कल्याण, मानव मूल्यों आदि शब्दों के निरन्तर और सर्वव्यापी प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि मानव प्रकृति में कुछ तत्त्व ऐसे होते हैं, जो सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक हैं तथा विभिन्न देशकाल के मानव प्राणियों में मूलतः समान हैं।"16 इन्हीं तत्त्वों की अभिव्यक्ति जीवन के नाना रूपों में होती है। काव्य भी उनमें से एक है और अपनी परिष्कृति तथा प्रभाव के कारण विशिष्ट गौरव है। उन्होंने काव्यशास्त्र जैसे शुष्क, नीरस विषय को जिस रचनात्मक, कल्पनात्मक शक्ति द्वारा रोचक और आकर्षक बनाया, उससे उनके शास्त्रीय अनुसंधानों के मानवीय और साहित्यिक मूल्यों में बहुत अधिक मात्रा में परिवृद्धि हो गई। सिद्धांत ने वर्तमान की समस्याओं को अपने विवेचन में गौण स्थान दिया। यही उनकी सीमा मानी जा सकती है, पर इससे यह भी सिद्ध है कि हिपोक्रेट नहीं थे।

निष्कर्ष:-

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम अन्त में कह सकते हैं कि डॉ. नगेन्द्र जी नवीन यात्राओं की पहचान का प्रयत्न उनके शास्त्रीय आधार को नूतन रुप देते चले हैं और शास्त्रीय आधार नवीन यात्राओं के स्वरूप को मूर्त रूप में देखने की दृष्टि है। डॉ. नगेन्द्र जी को अपनी मान्यताओं के प्रति अटूट निष्ठा है। यथा-संभव डॉ. नगेन्द्र की आलोचनात्मक दृष्टि प्रगतिशील मूल्यों को निर्धारित करने की रही। डॉ.नगेन्द्र ने अपनी आलोचना पद्धति में नये-नये आलोचना के तत्त्वों को स्थान देकर आलोचना के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान बनाया।

संदर्भ सूची:-

1. व्यास गोपाल प्रसाद, हिन्दी की आस्थावान पीढी, नेशनल पब्लिसिंगहाऊस नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृष्ठ संख्या 19
2. लक्ष्मी एस. डॉ. नगेन्द्र: विश्लेषण और मूल्यांकन, रंजन प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण 1971, पृष्ठ संख्या 246
3. मिश्र रामदरश, हिन्दी आलोचना की प्रवृत्तियां और आधार भूमि नार्थ इंडिया पब्लिसिंग नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, पृष्ठ संख्या 206
4. डॉ. नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, ओरिएंटल बुक डिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1955, पृष्ठ संख्या 211
5. डॉ. नगेन्द्र, नयी समीक्षा नए संदर्भ नेशनल पब्लिसिंगहाऊस, नई दिल्ली, संस्करण 1974, पृष्ठ संख्या 94
6. उपाध्याय पशुपतिनाथ, आलोचक डॉ. नगेन्द्रकृतित्त्व के विविध आयाम ग्रन्थायन प्रकाशन अलीगढ, प्रथम संस्करण 1985, पृष्ठ संख्या 95
7. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी आलोचना, राजकमल कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1970, पृष्ठ संख्या 187
8. मधुरेश, हिंदी आलोचना का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2004 पृष्ठ संख्या 126

9. डॉ. नगेन्द्र आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियां, नेशनल पब्लिसिंगहाऊस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1951, पृष्ठ संख्या 99
10. रामचन्द्र तिवारी, आलोचक का दायित्व, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2005, पृष्ठ संख्या 158
11. डॉ. नगेन्द्र, आलोचक की आस्था, नेशनल पब्लिसिंगहाऊस, नई दिल्ली, संस्करण 1966, पृष्ठ संख्या 5
12. बच्चन सिंहं, आलोचक और आलोचना, नेशनल पब्लिसिंग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1984, पृष्ठ संख्या 200
13. डॉ. नगेन्द्र विचार और विवेचन, नेशनल पब्लिसिंगहाऊस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1949, पृष्ठ संख्या 56
14. सुमित्रा नंदन पंत, डॉ. नगेन्द्र: अभिनंदन ग्रंथ, आर्य बुक डिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1975, पृष्ठ संख्या 712
15. डॉ. नगेन्द्र, आस्था के चरण, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, प्रथम संस्करण 1942, पृष्ठ संख्या 45
16. माक्खनलाल, आधुनिक हिंदी आलोचना एक अध्ययन, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली अप्रकाशित, पृष्ठ संख्या 249

◆सहायक आचार्या, हिन्दी विभाग
चौधरी बंसीलाल विश्वविद्यालय,
भिवानी (हरियाणा)
फोन- 9812832272
ई मेल: sushilaarya1970@gmail.com

आरंभिक खड़ी बोली का स्वरूप

◆डॉ. मनीष ओझा

बीज शब्द : भाषा, संस्कृति, खड़ी बोली, अपभ्रंश, आदिकाल, सिद्ध-नाथ साहित्य।

शोध सार : हिंदी भाषा के इतिहास में 'खड़ी बोली' का उद्भव और उसका विकास विशेष महत्व रखता है। आरंभिक खड़ी बोली का स्वरूप उस संक्रमण काल की देन है, जब अपभ्रंश से विकसित होकर यह एक स्वतंत्र बोली के रूप में उभर रही थी। इस दौर में खड़ी बोली साहित्यिक भाषा नहीं, बल्कि लोक-प्रयोग की भाषा थी, जिसमें ब्रज, अवधी तथा अन्य बोलियों के साथ-साथ संस्कृत और फारसी-प्रभाव भी परिलक्षित होता है। अमीर खुसरो, कबीर और संत कवियों के पदों में, साथ ही प्रारंभिक गद्य प्रयोगों में, खड़ी बोली का बीज-स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।शोध का उद्देश्य आरंभिक खड़ी बोली का यह अध्ययन करना है कि किस प्रकार से इस बोली ने लोक-संवाद, भक्ति आंदोलन और सांस्कृतिक समन्वय की पृष्ठभूमि में अपनी पहचान निर्मित की।

आलेख :इतिहास के पृष्ठों को पलटने पर हमारे समक्ष कई ऐसी घटनाएँ और तथ्य आ खड़ी होती हैं, जिनसे वर्तमान की निर्मिति का आधार स्पष्ट होता है ।हम यह जानते हैं कि कोई देश किसी दूसरे देश को पराजित करता है, उसपर अपना आधिपत्य स्थापित करता है तो भी वह अपनी भाषा या संस्कृति को पराजित देश पर न तो लादता है, और न ही लाद सकता है । इसका सीधा कारण यह है कि भाषा और संस्कृति ऐसी चीज़ है जिसको थोपा या लादा नहीं जा सकता । किन्तु परिस्थितिवश एक ऐसा वातावरण तैयार हो जाता है या किया जाता है कि समाज उस नई भाषा और संस्कृति को सहजता के साथ या तो अपना लेता है या कहीं-न-कहीं प्रभावित अवश्य होता है। स्थानीय नए माहौल में दो पृथक भाषाओं के शब्द मिलकर समय के साथ एक नई भाषा का निर्माण करते हैं । यह नई भाषा उस भाषा के रूप में सामने

आती है,जो मनुष्य की दैनिक ज़रूरतों को पूरा करने में सहायक होती है । एक दूसरे से संपर्क स्थापित करने तथा व्यापार करने के लिए उपयुक्त होती है ।

खड़ी बोली के स्वरूप और विकास की पृष्ठभूमि में इन्हीं स्थितियों को देखा जा सकता है । जब भारत में मुसलमानों ने अपनी शासन व्यवस्था सुदृढ़ कर ली और दिल्ली तथा आगरा के आस-पास अपना केंद्र स्थापित किया तब उन्हें यहाँ की कोई एक क्षेत्रीय भाषा ग्रहण करने की आवश्यकता महसूस हुई जिससे उनका व्यापर सुगम रूप से चल सके । सर्वप्रथम पंजाब प्रांत और उत्तरी पश्चिमी सीमाओं से भारत में आने के कारण उनका संपर्क इन्हीं क्षेत्रों की भाषाओं से हुआ। प्रथम संपर्क पंजाबी, ब्रजभाषा आदि से होने के कारण उन्हें ये भाषाएँ क्लिष्ट प्रतीत हुईं। अतः मेरठ और दिल्ली के आस-पास की क्षेत्रीय बोली के संपर्क में आने के बाद उन्होंने उस बोली को अपनाया जो 'खड़ी बोली'के नाम से जनसामान्य में प्रचलित थीऔर अन्य भाषाओं की तुलना में सहज थी । हम यह देखते हैं कि मुसलमानों का प्रवेश हिंदुस्तान के उत्तर पश्चिमी प्रान्त और पंजाब क्षेत्र में सबसे पहले हुआ और वहाँ से होते हुए वे मेरठ, दिल्ली, आगरा यानी उत्तर भारत और उत्तर पश्चिम भारतीय क्षेत्र तक पहुँचे । इससे उनका संपर्क इस क्षेत्र की सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं क्षेत्रीय विविधताओं और विशिष्टताओं से हुआ । यहाँ रहने वाले लोगों से इन विदेशी लोगों ने भाषाई आदान-प्रदान शुरू किया जिसके मिलन एवं आदान-प्रदान करने से एक नई मिश्रित भाषा का जन्म होता हुआ देखा गया ।पश्चिमी प्रदेशों में जिन बोलियों का प्रचलन था, उनमें से एक 'खड़ी बोली' का प्रयोग आपस में संपर्क साधने, व्यापार आदि करने के लिए होना आरम्भ हुआ ।

'खड़ी बोली' मध्यदेश की शौरसेनी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से उत्पन्न हुई है, जो दिल्ली मेरठ के आस-पास की प्रांतीय बोली थी । मुसलमानों के आगमन के उपरांत जब अरबी-फ़ारसी सहित अन्य विदेशी भाषाओं से इस बोली का संपर्क हुआ तो इसके अलग-अलग रूप सामने आए, जो कि क्षेत्रगत तथा प्रयोगगत भेद के कारण पृथक थे । इसका स्वरूप जिन विभिन्न शैलियों में उभर कर सामने आया उनमें हिन्दवी, उर्दू, रेखता तथा दक्खिनी रूप सर्वाधिक प्रसिद्ध रहे हैं । इसी में से एक रूप आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी में 'हिन्दुस्तानी' कहलाया।

यही वह 'खड़ी बोली'है जो आज साहित्यिक हिंदी के रूप में प्रचलित है और हमारी राजभाषा है । इसके स्वरूप और विकास प्रक्रिया पर विद्वानों ने समय-समय पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया है । वर्तमान में खड़ी बोली से सम्बंधित बहुत से मत और मतभेद भाषावैज्ञानिकों और भाषा विद्वानों में मिलते हैं । यह मतभेद खड़ी बोली की उत्पत्ति को लेकर भी हैं और उसके नामकरण को लेकर भी हैं । भाषा के इतिहास संबंधी पुस्तकों को पढ़ने, उनका अवलोकन करने पर 'खड़ी बोली' के संबंध में अलग-अलग मत दिखाई देते हैं । इसकी उत्पत्ति से जुड़े दो महत्त्वपूर्ण मत हैं जिनमें से पहला मत उर्दू के पक्षधर विद्वानों का था जिन्होंने यह कहा कि खड़ी बोली की व्युत्पत्ति उर्दू से हुई है । दूसरा पक्ष उन विद्वानों का था जो ब्रजभाषा से इसकी उत्पत्ति सिद्ध करने के आकांक्षी थे। दोनों ही तरफ़ के समर्थकों ने अपने-अपने मत को पुष्ट करनेके लिए इसके मूल आधार को लेकर अलग-अलग तर्क भी दिए हैं । वस्तुतः खड़ी बोली का उद्भव न तो उर्दू से हुआ जान पड़ता है और न ही व्रज से अपितु यह बोली आर्यभाषाओं के क्रमिक रूप में विकसित होते हुए अपभ्रंश के शौरसेनी रूप की पश्चिमी हिंदी की एक बोली के रूप में प्रतिष्ठित थी, जिसका प्रयोग पहले से ही होता चला आ रहा था । इस बोली का प्रयोग हमें आर्यभाषाओं के आरंभिक काल में ही दिख जाता है। सरहपा, हेमचन्द्र आदि के द्वारा लिखित पंक्तियों में आए खड़ी बोली के शब्द इस बात के परिचायक हैं । अपभ्रंश में रचित सिद्ध, नाथ, जैन साहित्यों में ही इस 'खड़ी बोली' के शब्दों का प्रयोग सर्वप्रथम देखा गया । हम यह भी देखते हैं कि सिद्ध-नाथ साहित्यों की भाषा खड़ी बोली के सर्वाधिक निकट दिखाई देती है । इसके पीछे एक कारण यह है कि सिद्ध-नाथों के अनुयायी उत्तर भारत के सभी क्षेत्रों में व्याप्त थे । यह वे संत थे जिनकी प्रवृत्ति घुमक्कड़ी थी और जो पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए थे। इसलिए उन क्षेत्रों की बोलियों का आगमन इनके साहित्य में होना स्वाभाविक ही था ।

अपभ्रंश साहित्य में राजस्थानी 'डिंगल' की बोलियों एवं 'पिंगल' ब्रज की ध्वनियों का तथा खड़ी बोली के शब्दों का आगमन भी इस समय में होने लगा था। यह भी कहा जा सकता है कि अपभ्रंश साहित्य में ही इन बोलियों का आरंभिक रूप दिखाई देने लगा था। वह अपभ्रंश जिसमें देशज तथा तद्भव शब्दों की बहुलता थी, अब उसमें तुर्की, अरबी-फ़ारसी आदि विदेशी शब्दों का भी मिश्रण होने लगा था। खड़ी बोली का नवांकुर रूप इसी अपभ्रंश भाषा में लिखित सिद्ध-नाथों के साहित्य के साथ ही जैन साहित्य में दृष्टिगोचर होता है । साथ ही दिल्ली, मेरठ के आस-पास की प्रचलित खड़ी बोली (जिस पर पंजाबी का प्रभाव भी था) में भी मुसलमानों के अरबी-फ़ारसी के शब्दों का मिश्रण होने लगा था और वह एक नया रूप धारण करने लगा था। वास्तव में 'खड़ी बोली'वह जनप्रचलित बोली थी जिसने तत्कालीन साहित्य की भाषा को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया था। इस संबंध में डॉ. नामवर सिंह ने अपनी रचना 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' में लिखा है -"परिनिष्ठित अपभ्रंश में आधुनिक बोलियों के मिश्रण का आभास हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के रचनाकाल (1142ई.) से ही मिलने लगता है।"[1]

खड़ी बोली का प्रयोग प्राकृत व्याकरण के साथ-साथ अवहट्ट में रचित 'संदेस रासक' में भी देखा जा सकता है। अवहट्ट,अपभ्रंश का ही बोलचाल वाला देसी रूप है।इन दोनों ही रचनाओं में खड़ी बोली का आरंभिक रूप आजकी खड़ी बोली के जैसा न होकर अपभ्रंश से ही प्रभावित रूप में था। निम्नलिखित कवियों की रचनाओं के उदाहरणों के द्वारा खड़ी बोली के उस प्राचीन रूप को यहाँ देख सकते हैं।इनमें सिद्ध कवि सरहपा (सरह) की कविताओं में खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग सबसे पहले यानी लगभग 700 ई. के आस-पास मिलता है। यहाँ खड़ी बोली के खुसरो पूर्व कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं जिनमें खड़ी बोली का आरंभिक रूप और कुछ शब्दों का प्रयोग हुआ है । सर्वप्रथम सिद्ध कवि सरहपा विरचित इन पंक्तियों को देखें : –

"जहि मन पवनन संचरइ, रवि ससि नांहिं पवेस ।
तहि बट चित्त बिसाम करूँ, सरेहे कहिअ उवेस ।।
घोर अधारे चंदमणि जिमि उज्जोअ करेइ ।
परम महासुह एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ ।।"[2]

सरहपा

ज्ञात हो कि सिद्ध साहित्य की भाषा वस्तुतः देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश भाषा थी, जिसे कुछ आलोचकों ने पुरानी हिंदी भी कहा । वस्तुतः अपभ्रंश तत्कालीन समाज की साहित्यिक भाषा तो थी परन्तु उसमें देशी भाषा के शब्दों का आगमन होने लगा था । उसमें गुजराती, राजस्थानी, व्रज आदि से लेकर पूर्वी बोलियों के शब्द भी दिखाई देने लगे थे । इसका यह कारण था कि सिद्ध-संतों का आवास मगध क्षेत्र भी रहा था, जिसके कारण पूर्वी शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है । वैसे तो सिद्धों की भाषा 'पुरानी हिंदी' की संरचना ब्रजमिश्रित अपभ्रंश थी, परन्तु उसमें अन्य बोलियों का भी प्रवेश हो गया था । सिद्धों में 'सरह' प्रथम सिद्ध हैं जो कि 7वीं शताब्दी के आस-पास से संबंध रखते हैं। यानी सातवीं शताब्दी में ही खड़ी बोली हिंदी का आरंभिक सूक्ष्म रूप हमारे सामने आने लगता है। सरहपा विरचित जिन पंक्तियों का उदाहरण यहाँ दिया गया है उसमें मन, पवन, रवि, ससि, चित्त आदि शब्द हिंदी खड़ी बोली के वे रूप हैं जिनकी उपस्थिति उस समय से ही मिलती है ।

नाथ साहित्य के सर्वप्रथम कवि गोरखनाथ ने भी अनेक पद और साखियाँ लिखी हैं, जिनमें 'खड़ी बोली का आरंभिक रूप देखता है । इस संबंध में अपना मत देते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी अपने साहित्य के इतिहास में लिखा है कि "...नाथ पंथ के जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्यभाषा से जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रजभाषा का था, से अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिये राजस्थानी था ।"[3] उनके पद से यहाँ एक उदाहरण देखा जा सकता है जिसमें खड़ी बोली के शब्द मिलते हैं :-

"बैठा अवधू लोह की षटी, चलता अवधू पन की मूंठी।
सोवता अवधू जीवता मूवा, बोलता अवधू प्यंजरै सूवा।।
अरध-ऊरध बिची धरी उठाई, मधि सुंनि मैं बैठा जाई।
मतवाला की संगति आई, कथंत गोरखनाथ परमगति

पाई ।।"[4]

नाथ पंथ के ही अन्य जोगी चरपटनाथ व चौरंगीनाथ ने भी खड़ी बोली के शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। उदाहरण देखें :-

"किसका बेटा किसकी बहू। आप सवारथ मिलिया सहू।।
जेता फूल तेता आल। चरपट कहे सब आल जंजाल।।"[5]

तत्समय में 'खड़ी बोली' के प्रयोग के एक उदाहरण जैन कवि हेमचन्द्र की इन पंक्तियों में देखे जा सकते हैं:-

"भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणिमहारा कंतु
लज्जेजं तु वयंसिअहु, जइ भग्गा घरुएंतु ।"[6]
(हेमचन्द्र)

"जो जहाँ होतउ सो तहाँ होतउ,
सत्तु वि मित्तु वि किहेंविहु आवहु
एक्कएँ दिट्ठिहि दोन्निवी जोअहु।।"[7]
(हेमचन्द्र)

इनके अतिरिक्त रासो साहित्य में भी खड़ी बोली के शब्दों की उपस्थिति मिलती है। पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, परमाल रासो आदि में उस भाषा के उदाहरण देखे जा सकते हैं जिनमें 'खड़ी बोली' यत्र-तत्र अपनी जगह बनाए हुए थी। एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि जगनिक द्वारा रचित 'आल्हा खंड' जो परमाल रासो से सम्बद्ध है तथा जिसका संकलन बीसवीं शताब्दी में इलियट द्वारा किया गया था, यदि उसकी प्रामाणिक (जगनिक विरचित) प्रति आज हमारे समक्ष होती तो तत्कालीन खड़ी बोली की झलक संभवतः उसमें और भी बेहतर रूप में दिखती। तब भी यदि हम मौखिक परंपरा से प्राप्त तथा इलियट द्वारा संकलित रूप को ही देखें तो हिंदी का विकसित रूप हमें उसमें दिखता है। यह उदाहरण देखिए :-

"बारह बरिस लै कूकर जीऐं, औ तेरह लै जीऐं सियार।
बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन को धिक्कार।"[8]

उस समय में लिखी जा रही रचनाओं के बारे में पढ़ने पर अपभ्रंश का साहित्य दो रूपों में दिखाई देता है। एक वह, जो अपभ्रंश भाषा का नागर रूप था जिसमें जैन कवियों द्वारा साहित्य की रचना दिखाई देती है और एक वह जो अपभ्रंश का ग्राम्य रूप था जिसे हेमचन्द्र ने 'ग्राम्य भाषा' कहा है। इसमें 'बौद्ध साहित्य' तथा 'रासक' आदि ग्रंथों की रचना हुई है। यह ग्राम्य भाषा ही हिंदी के सर्वाधिक निकट थी। हिंदी का आरंभिक रूप हमें इसी समय की रचनाओं में दिखता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार "अपभ्रंश या प्राकृत भाषा हिंदी के पदों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है ।"[9]

समय के साथ-साथ 'पुरानी हिंदी' के दो रूप हमारे सामने उपस्थित होते हैं। एक 'डिंगल', जिसका भाषाई संबंध राजस्थान की भाषा और साहित्य से है। इस रूप में सर्वाधिक चर्चित रचना 'ढोला मारू रा दूहा' है।'पुरानी हिंदी' का दूसरा रूप 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध है, यह पिंगल मध्यदेश की पुरानी व्रजभाषा का नाम है। परन्तु सबसे मुख्य बात यहाँ इन दोनों से अलग एक तीसरे देसी रूप की है जो विद्वानों के मतानुसार 'हिन्दवी' के नाम से जानी गई है।12वीं से 14वीं शताब्दी तक हिंदी का निखरा हुआ रूप हमें इसी खड़ी बोली 'हिन्दवी' में दिखता है। यह रूप प्राचीन हिंदी भाषाओं से कुछ अलग हटकर है। उसे अलग करता है उसमें प्रयुक्त अरबी-फ़ारसी के शब्दों का मिश्रण जो मुसलामानों के आगमन से उसमें मिश्रित हो गया था और तत्कालीन समाज में बोलचाल की भाषा के रूप में सर्वाधिक प्रचलित था। यदि भाषा की विकास-प्रक्रिया पर ध्यान दिया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिक भाषा इन्हीं लोक भाषाओं से अपनी ऊर्जा प्राप्त करती है, परिवर्तित, विकसित होती है और जीवंत बनी रहती है। जब इन साहित्यिक भाषाओं की पहुँच जनमानस से दूर हो जाती है, तब वह लगभग मृत अवस्था में पहुँच जाती है। उस समय उसका स्थान कोई लोक भाषा ग्रहण कर लेती है। भाषा के विकास में हमने यह देखा है। संस्कृत से लेकर अपभ्रंश तक की हज़ार वर्षों की यात्रा का भी यही चक्र चलता रहा है। जब संस्कृत साहित्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी तब पाली और प्राकृत जनमानस की भाषा के रूप में प्रचलित रही। वैसे ही जब प्राकृत साहित्य की भाषा के रूप में प्रचलित हुई तो अपभ्रंश जनभाषा बनी।

बाद में अपभ्रंश का स्थान आधुनिक भारतीय भाषाओं ने ग्रहण किया और इसमें साहित्य की रचना आरम्भ हुई। भाषाओं के संक्रमण या संधि काल में दोनों एक दूसरे को प्रभावित करती हुई दिखाई देती हैं। इस बात की पुष्टि के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत दृष्टव्य है । उन्होंने लिखा है कि "जब से प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह गई तभी से अपभ्रंश साहित्य का आविर्भाव समझना चाहिए ।...प्राकृत से बिगड़कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया और काव्य रचना के लिए रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गयी तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।"[10] इसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कालांतर में भाषा के रूप में 'खड़ी बोली' का भी प्रचलन हुआ। चली आ रही साहित्यिक भाषा और उसकी विशेषताएँ समय के साथ धूमिल होती गईं और ब्रजभाषा, अवधी, हिन्दवी, उर्दू, रेखता तथा दक्खिनी हिंदी आदि शैलियों से होती हुई 'आधुनिक हिंदी' तक पहुँची ।

इन प्रचलित लोक बोलियों और विविध शैलियों की उपस्थिति उस समय भी साहित्यिक कृतियों में पर्याप्त मात्रा में थी। मुसलमानों के शासनकाल में फ़ारसी, जो कि राजभाषा के पद पर आसीन थी, उसे आगे आने वाले लगभग सभी सुल्तानों ने उसी पद पर बिठाकर रखा और अपना संरक्षण प्रदान किया। मुगलों के आगमन के समय यह भाषा प्रमुख रूप से दरबारी भाषा बनी । मुगलकाल में ज़बान-ए-उर्दू के प्रचलित होने के साथ ही इसकी सरपरस्ती में उर्दू बहुत प्रचलित हुई तथा साहित्यकारों ने इसे अपनाया। अरबी-फ़ारसी के प्रशंसक मुसलमान शासकों ने अरबी-फ़ारसी मिश्रित खड़ी बोली की ज़ुबान उर्दू को भी अपना संरक्षण प्रदान किया और उसे समृद्ध करते रहे। खड़ी बोली खुसरो काल में भी परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा नहीं थी अपितु वह अपने अलग-अलग रूपों में प्रचलित थी। कवि अमीर खुसरो ने ही 'खड़ी बोली' का प्रयोग अपनी कृतियों में करना आरम्भ किया और हिंदी खड़ी बोली में काव्य रचने वाले पहले रचनाकार के रूप में विख्यात हुए। अपभ्रंश के बाद की रिक्तता को खड़ी बोली ने ख़ासकर अमीर खुसरो ने भरने का प्रयत्न किया। किन्तु उनके पश्चात् इस खालीपन को भरने वाला खुसरो-सा कोई और ज़बांदानी नहीं हुआ। हालाँकि यहाँ यह प्रश्न भी आ सकता है कि यदि खुसरो से पूर्व सिद्ध, नाथ जैन साहित्य में 'खड़ी बोली' की उपस्थिति मिलती ही है, जैसा कि अब तक कहा गया है, तो वे कवि 'खड़ी बोली' के पहले कवि क्यों नहीं कहे जा सकते ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के उस कथन को रखा जा सकता है जहाँ वे कहते हैं कि " हिंदी के भीतर खींची जाने वाली समस्त रचना काव्य नहीं है । सिद्धों-नाथों की बानियाँ हिंदी भाषा में कही गई हैं, जो मानी भी जा सकती हैं, पर हिंदी काव्यधारा से उनका कोई संबंध नहीं। काव्यात्मक भंगिमा और सर्वसामान्य भावसत्तात्मक संवेदना के बिना शुद्ध सर्जनात्मक साहित्य के परिसर में कोई रचना नहीं आ सकती । जब प्रश्न उठता है कि किस भाषा के भीतर ऐसी रचनाओं का विचार हो तब भाषा के नाम पर ये हिंदी साहित्य से जोड़ दी जाती हैं।"[11] स्पष्ट है कि अमीर खुसरो की रचनाओं में या काव्यात्मक भंगिमाएँ और भावसत्तात्मक संवेदनाएँ दोनों ही प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। अतः उन्हें 'खड़ी बोली' में रचना करने वाले प्रथम कवि का स्थान प्राप्त है।

अमीर खुसरो के पश्चात् खड़ी बोली की साहित्यिक लेखन परंपरा कमज़ोर पड़ती नज़र आती है । यह कमज़ोरी उस भाषा के कारण न होकर उसके प्रयोगकर्ताओं की कमी के कारण उत्पन्न हुई थी । अमीर खुसरो के यहाँ जब 'खड़ी बोली' अपने प्रकाश और प्रभाव के साथ चमकती हुई दिख रही थी तब भी उस पर राजस्थानी, ब्रज और अवधी आदि क्षेत्रीय बोलियों का प्रभाव नज़र आ रहा था । शनैः शनैः परिस्थितिवश साहित्यिक खड़ी बोली के स्थान को पहले अवधी ने, फिर ब्रज ने ग्रहण किया।

यहाँ हमने खड़ी बोली की जिस रिक्तता की बात की है, वास्तव में वह उसकी पूर्ण अनुपस्थिति की पर्याय नहीं है । खड़ी बोली किसी भी प्रकार से साहित्य से पूर्णतः ओझल नहीं हुई थी । अपितु वह

पर्वतीय नदी की तरह पहाड़ों, गुफाओं, कंदराओं में यानी भीतर कहीं गतिमान थी । यह अपने पूर्ण भावों और शब्दों के साथ खुसरो के समकालीन तथा परवर्ती कवियों की रचनाओं में स्थान बनाए हुए थी । इन कवियों में मुल्ला दाउद, कबीर, मंझन, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा, रसखान आदि प्रमुख हैं । मूलतः इन कवियों की भाषा ब्रज, अवधी तथा राजस्थानी थी, किन्तु खड़ी बोली के कुछ शब्द भी वहाँ यत्र-तत्र दिख पड़ते हैं । खड़ी बोली की वाक्य सृष्टि वहाँ नहीं है किन्तु उसके शब्द अवश्य हैं । हम कह सकते हैं कि जिस तरह एक पर्वतीय नदी भीतर-भीतर बहती हुई अंततः अपना विस्तार करती है उसी तरह उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली आधुनिक हिंदी का स्वरूप ग्रहण कर विस्तार पाती है और आज देश की राजभाषा के रूप में स्थापित है।

संदर्भ

1. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवर सिंह, लोक भारती प्रकाशन, पंचम संस्करण, 1971, पृष्ठ संख्या – 60
2. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र, शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2056, पृष्ठ संख्या – 6
3. वही, पृष्ठ संख्या – 11
4. गोरखबानी, (सं.) पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सन् 2004, पृष्ठ संख्या-25
5. खड़ी बोली का आन्दोलन, डॉ. शितिकंठ मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2013, पृष्ठ संख्या – 32 से उद्धृत
6. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2056, पृष्ठ संख्या –13
7. पुरानी हिंदी, गुलेरी ग्रंथावली, दूसरा भाग, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा, वारणासी, संवत् 2042, पृष्ठ संख्या – 122
8. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2023, पृष्ठसंख्या – 29
9. वही, पृष्ठ संख्या – 3
10. वही, पृष्ठ संख्या – 5
11. हिंदी साहित्य का अतीत, भाग -1, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-6, 2006

◆सहायक प्रोफ़ेसर
हंसराज कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली 110007
ई मेल: manishojhahrc@gmail.com
फोन-8368445902

'पिंजर' उपन्यास में नारी अस्मिता और पारिस्थितिक नारीवाद

◆राजविन्द्र कौर ◆◆ डॉ.पूजा धमीजा

शोध सार: नारी अस्मिता-विमर्श के केंद्र में 'अस्मिता' एक महत्वपूर्ण अवधारणा है जिसने ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर रखी गई स्त्री को बौद्धिक और सामाजिक चर्चाओं के केंद्र में स्थापित कर दिया है। जैविक दृष्टि से स्त्री-पुरुष में प्रकृति-प्रदत्त भेद स्वाभाविक हैं, किंतु लैंगिक भेद के कारण स्त्री की अस्मिता सदैव प्रश्न के दायरे में रही है। साहित्य में स्त्री की अस्मिता तथा उसकी भूमिका का विश्लेषण विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता रहा है। नारीवाद एवं पारिस्थितिक नारीवाद (इको-फेमिनिज़्म) साहित्यिक विमर्श के ऐसे ही दो महत्त्वपूर्ण आयाम हैं जिनके अंतर्गत स्त्री की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिस्थितिक स्थिति का विश्लेषण किया जाता है। अमृता प्रीतम का उपन्यास '*पिंजर*' इस संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति है, जो स्त्री-अस्मिता तथा पारिस्थितिक नारीवाद के जटिल संबंधों को उजागर करता है। यह उपन्यास भारत-पाकिस्तान विभाजन

की पृष्ठभूमि में स्त्री के शोषण, सामाजिक अन्याय तथा पारिस्थितिक असंतुलन के मध्य स्त्री-चेतना के जागरण को रेखांकित करता है। उपन्यास की नायिका पूरो जो पुरुषसत्ता और जातिगत प्रतिशोध का शिकार होती है, वह व्यक्तिगत पीड़ा का ही प्रतीक नहीं है अपितु समूची स्त्री जाति की अस्मिता के संघर्ष को अभिव्यक्त करती है। इस शोधपत्र का उद्देश्य '*पिंजर*' उपन्यास में नारी अस्मिता एवं पारिस्थितिक नारीवाद के अंतर्संबंधों का विश्लेषण करना है। इस अध्ययन में यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि कैसे अमृता प्रीतम ने अपने उपन्यास में स्त्री-अस्मिता को केंद्र में रखकर पितृसत्तात्मक समाज की रूढ़ियों का विरोध किया है और साथ ही पारिस्थितिक नारीवाद के सिद्धांतों को भी साहित्यिक रूप में प्रस्तुत किया है। स्त्री एवं प्रकृति के शोषण की समानांतर स्थिति, पूरो का संघर्ष, विभाजन की पृष्ठभूमि में स्त्रियों की स्थिति और पारिस्थितिक नारीवाद की अवधारणा को इस शोधपत्र में व्यापक रूप से विश्लेषित किया जाएगा।

बीज शब्द:मातृत्व दृष्टि, नारी अस्मिता, पितृसत्ता, सहअस्तित्व, समन्वय, आत्मबोध, प्राकृतिक असंतुलन।

परिचय: अमृता प्रीतम पंजाबी साहित्य की प्रतिष्ठित लेखिका थीं जिनका रचनात्मक योगदान स्त्री-चेतना, सामाजिक शोषण के विरोध और मानव स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति में महत्त्वपूर्ण रहा। उनकी लोकप्रियता केवल पंजाबी साहित्य तक सीमित न रहकर अन्य भाषाओं के साहित्यिक परिदृश्य में भी व्यापक रूप से स्थापित हुई। उनकी लगभग 90 प्रकाशित कृतियों का हिंदी सहित अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद किया गया है। उनके उपन्यासों की महिला पात्र केवल अपने संघर्ष तक सीमित न रहकर अन्य महिलाओं की पीड़ा के प्रति संवेदनशीलता और समाधान की दिशा में सक्रियता भी दर्शाती हैं। पारिस्थितिक नारीवाद के संदर्भ में उनके साहित्य में स्त्री और प्रकृति के शोषण के बीच गहरा संबंध दृष्टिगोचर होता है जो पिंजर के विश्लेषण को प्रासंगिक बनाता है।

अमृता प्रीतम का उपन्यास 'पिंजर' मात्र भारत-पाकिस्तान विभाजन की ऐतिहासिक त्रासदी को चित्रित करने तक सीमित नहीं है। यह स्त्री के शोषण और उसकी अस्मिता के संघर्ष को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है। उपन्यास का शीर्षक 'पिंजर' (जिसका अर्थ 'कंकाल' है) प्रतीकात्मक रूप से उस सामाजिक संरचना को दर्शाता है जहाँ स्त्री को केवल एक शरीर के रूप में देखा जाता है। उसकी भावनाओं, इच्छाओं और अस्तित्व को गौण मान लिया जाता है। इस संदर्भ में उपन्यास की नायिका पूरो व्यक्तिगत संघर्ष करते हुए एक व्यापक सामाजिक व्यवस्था में स्त्री के अस्तित्व के संकट और पितृसत्तात्मक नियंत्रण का प्रतिरूप बन जाती है।

पारिस्थितिक नारीवाद की अवधारणा: 'पारिस्थितिक नारीवाद' का उद्भव 1970 के दशक में हुआ जब पश्चिमी देशों में नारीवादी आंदोलनों ने पर्यावरणीय मुद्दों के साथ जुड़कर नई विचारधारा को जन्म दिया। इस सिद्धांत की आधारशिला फ्रैंकोइस डी'यूबॉन ने अपनी पुस्तक (Le Féminismeou la Mort 1974) में रखी, जिसमें उन्होंने स्त्रीवादी आंदोलन को पर्यावरणीय न्याय के साथ जोड़ने की बात की। इस आंदोलन का उद्देश्य प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और महिलाओं के दमन के बीच गहरे संबंधों की पहचान करना था। "फ्रैंकोइस ने सिद्ध किया कि भूमि के नाश का कारण पुरुष है। पुरुष के आक्रमण से भूमि को बचाकर मानव की रक्षा करने में स्त्री समर्थ है।"1पारिस्थितिक नारीवाद स्त्री को प्रमुख शक्ति के रूप में देखता है जहाँ स्त्रियाँ केवल शोषण की शिकार मात्र नहीं होतीं अपितु एक संवेदनशील, सृजनात्मक एवं पोषणक्षम शक्ति के रूप में समाज एवं प्रकृति की संरक्षिका बनती हैं। यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था की उस प्रवृत्ति का विरोध करता है जिसमें स्त्री और प्रकृति दोनों का दोहन किया जाता है। पारिस्थितिक नारीवाद केवल एक सैद्धांतिक विमर्श नहीं, बल्कि एक सामाजिक परिवर्तन का आह्वान भी है जो स्त्री और

प्रकृति दोनों के प्रति संवेदनशील दृष्टिकोण विकसित करने की आवश्यकता पर बल देता है। "यह प्रत्येक जीवन की विशेष शक्ति और अस्मिता पर बल देता है।"[2] *'पिंजर'* में विभाजन की पृष्ठभूमि में न केवल स्त्रियों का शोषण दिखाया गया है बल्कि प्रकृति का भी क्षरण प्रस्तुत किया गया है। जबरन विस्थापन और युद्ध के कारण न केवल स्त्रियाँ और कमज़ोर वर्ग पीड़ित होते हैं अपितु प्राकृतिक संसाधनों का भी विनाश होता है।

'पिंजर' में नारी अस्मिता और पारिस्थितिक नारीवादी दृष्टिकोण:नारी अस्मिता का प्रश्न साहित्य, समाजशास्त्र और नारीवाद के विमर्श में सदैव महत्वपूर्ण रहा है। यह अस्मिता केवल जैविक या सामाजिक पहचान तक सीमित नहीं है, अपितु यह स्त्री के आत्मबोध, आत्मसम्मान और स्वतंत्रता की अनुभूति से भी जुड़ी होती है। किसी भी व्यक्ति को सीमित अवधि तक ही दमन की स्थिति में रखा जा सकता है; अवसर मिलते ही वह अपने अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा हेतु संघर्षरत हो उठता है। स्त्री इस धरती की संवेदनशील मानवी ही नहीं, एक बौद्धिक प्राणी भी है। उसकी अस्मिता को अनिश्चितकाल तक दबाकर रखना असंभव है। अमृता प्रीतम ने 'पिंजर' के माध्यम से स्त्री अस्मिता के उस रूप को प्रस्तुत किया है जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था से टकराता भी है और उसके भीतर रहकर अपनी पहचान स्थापित करने का प्रयास भी करता है। 'पिंजर' में पूरो का चरित्र इसी विमर्श का एक सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। *'पिंजर'* एक कथा नहीं है यह भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति, उनके संघर्ष, पितृसत्तात्मक वर्चस्व और विभाजन की त्रासदी के बीच उनकी अस्मिता की खोज का जीवंत चित्रण है। इस उपन्यास की नायिका पूरो एक ऐसी स्त्री है, जो सामाजिक अन्याय एवं पुरुषसत्तात्मक दमन का शिकार होने के बावजूद अपनी पहचान एवं अस्तित्व की रक्षा हेतु संघर्षरत रहती है। पूरो की कथा एक स्त्री के व्यक्तिगत संघर्ष से आगे बढ़कर समूची स्त्री जाति के अधिकारों एवं अस्तित्व की लड़ाई बन जाती है। वह पारिस्थितिक नारीवाद की उस मूल भावना को मूर्त रूप देती है जिसमें करुणा, सहानुभूति, मातृत्व तथा परोपकार को सशक्त स्त्रीत्व का आधार माना जाता है।

उपन्यास के प्रारंभ में पूरो एक अबला के रूप में प्रस्तुत होती है जिसका अपने जीवन पर कोई अधिकार नहीं है। लेकिन बाद में पूरो की अस्मिता केवल एक स्त्री के रूप में नहीं, बल्कि प्रकृति के समान उदार, पोषण देने वाली और सबको अपनाने वाली स्त्री के रूप में सामने आती है। जातिगत वैमनस्य के कारण उसका जबरन अपहरण कर लिया जाता है। रशीद द्वारा पूरो का अपहरण पारंपरिक रूप से स्त्रियों को पुरुषों की संपत्ति मानने की मानसिकता को उजागर करता है। इस अनपेक्षित घटनाक्रम के पश्चात माता-पिता द्वारा उसे अस्वीकार कर दिया जाता है, क्योंकि वह एक मुस्लिम व्यक्ति द्वारा अपहृत की जा चुकी होती है। इस परिघटना से यह स्पष्ट होता है कि समाज के लिए स्त्री का सम्मान केवल उसकी शारीरिक शुद्धता तक सीमित है न कि उसकी इच्छा, अस्तित्व या अस्मिता तक। यह सामाजिक सोच स्त्री को एक वस्तु के रूप में प्रस्तुत करती है जो पुरुष-प्रधान संरचना द्वारा नियंत्रित की जाती है। इसमें "दोषी पुरुष नहीं है पितृसत्तात्मक व्यवस्था है, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरुषों को लगातार एक ही साँचे में ढालती दिखती है कि स्त्रियां उनसे हीनतर है, उनके भोग का साधन मात्र है।"[3] पूरो की पीड़ा केवल उसकी व्यक्तिगत त्रासदी न होकर समस्त नारी-जाति की सामाजिक स्थिति का द्योतक है। रशीद उसके प्रति अनुरक्ति रखता है और अंततः उससे निकाह कर लेता है जिससे पूरो को संतान की प्राप्ति होती है। अपने पुत्र को देखकर उसके मनोमस्तिष्क में अतीत के कटु अनुभव पुनः जाग्रत हो उठते हैं जिससे उसमें संपूर्ण पुरुष समाज के प्रति घृणा का संचार होने लगता है। "यह लड़का...उस लड़के का बाप...सारी पुरुष जाति...पुरुष...पुरुष! जो स्त्री के शरीर को कुत्ते की हड्डी की तरह चूसते हैं।"[4] इस मानसिक अवस्था में वह पुरुषों को एक ऐसी पाशविक शक्ति के रूप में देखती

है, जो नारी की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकारने के स्थान पर उसे मात्र उपभोग की वस्तु के रूप में सीमित कर देती है। इस प्रसंग में लेखिका ने पुरुषों की आदिम प्रवृत्तियों की ओर इंगित किया है जहाँ वे स्त्री के अस्तित्व को नगण्य मानकर उसका अवमूल्यन करते हैं। पुत्र को देखकर नायिका के मनोमस्तिष्क में अतीत के कटु अनुभव पुनः जागृत हो उठते हैं, जिससे उसमें संपूर्ण पुरुष समाज के प्रति गहरी वितृष्णा उत्पन्न होने लगती है। इस अवस्था में वह पुरुषों को एक ऐसी पाशविक शक्ति के रूप में देखती है, जो नारी के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करने के बजाय उसे मात्र उपभोग की वस्तु तक सीमित कर देती है। पारिस्थितिक नारीवाद मानता है कि, "पुरुष सत्तात्मक समाज ने स्त्री और प्रकृति की समानता पहचानकर दोनों का वस्तुकरण कर दिया।"[5] इसलिए पितृसत्तात्मक व्यवस्थाएँ न केवल स्त्रियों का दमन करती हैं, अपितु प्राकृतिक संपदाओं का भी अंधाधुंध दोहन करती हैं।

पूरो की पहचान समाज द्वारा निर्धारित संरचनाओं के बीच विभाजित हो जाती है।रशीद द्वारा उसकी बाँह पर 'हमीदा' नाम गोदे जाने की क्रिया केवल बाह्य पहचान का परिवर्तन नहीं है। यह उसके अस्तित्व को पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अनुरूप ढालने का प्रयास है। "दिन की रोशनी में पूरो हमीदा बन जाती थी, रात के अंधकार में वह पूरो ही रहती, किंतु पूरो सोचती थी वह वास्तव में न हमीदा थी न पूरो वह केवल एक पिंजर थी, केवल पिंजर, जिसका कोई रूप न था, कोई नाम न था।"[6]पूरो का "पिंजर" बन जाना उसकी व्यक्तिगत त्रासदी नहीं है। यह संपूर्ण स्त्री जाति की उस स्थिति को दर्शाता है, जहाँ उन्हें सामाजिक और पारिवारिक संरचनाओं के अनुरूप ढलने के लिए बाध्य किया जाता है। "पितृसत्ता ने स्त्री को उपभोग की वस्तु बनाया। उसे साधन के रूप में प्रयुक्त किया- उसके नाम, रूप, जाति, गोत्र सब अपने सन्दर्भ में परिभाषित किए।"[7] पारिस्थितिक नारीवाद इस बात पर बल देता है कि स्त्रियों और प्रकृति के प्रति करुणा, सहअस्तित्व और संवेदनशीलता का दृष्टिकोण अपनाया जाए जिससे उनकी मूल पहचान सुरक्षित रहे और वे स्वतंत्र रूप से अपने अस्तित्व को परिभाषित कर सकें।

'स्त्री' जन्म से एक स्वतंत्र प्राणी होती है, लेकिन पुरुष-प्रधान सभ्यता और व्यवस्था के अधीन अपने समस्त अधिकारों का समर्पण करने के लिए बाध्य रहती है। इसके बावजूद वह पुरुष की शोषणकारी मानसिकता एवं अमानवीय आचरण का शिकार होती रही है। तारो अपने अनुभवों के आधार पर समाज की वैषम्यपूर्ण संरचनाओं को उद्घाटित करती है। वह कहती है, "लड़कियों का क्या है, माँ – बाप चाहे जिसके हाथ में उसके गले की रस्सी पकड़ा दें।"[8] इससे यह संकेत मिलता है कि समाज में स्त्रियों को स्वयं की इच्छा और स्वतंत्रता से वंचित कर दिया जाता है। "मेरे मुँह पर ताला डाल दिया गया, मेरे पैरों में बेड़ी डाल दी गई, उसका क्या बिगड़ा? भगवान ने उसे बंधन में न डाला, उसे बाँधने के लिए भगवान जन्मा ही नहीं। सारी रस्सियाँ भगवान ने मेरे पैरों में ही डाल दीं।"[9] तारो की यह स्थिति इस बात को उजागर करती है कि किस प्रकार पितृसत्तात्मक समाज महिलाओं की स्वतंत्रता पर नियंत्रण रखता है। यहाँ "रस्सियाँ" उन दकियानूसी सामाजिक वर्जनाओं की प्रतीक हैं जिनके माध्यम से स्त्रियों को उनके मौलिक अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। इस संवाद के माध्यम से लेखिका समस्त नारी समाज की वास्तविक स्थिति का चित्रण करती हैं जहाँ स्त्रियों की स्वायत्तता को सीमित कर उन्हें पुरुष-प्रधान सत्ता के अधीनस्थ बना दिया जाता है।

मातृत्व की भावना एक स्त्री को पुरुष से श्रेष्ठ सिद्ध करती है। पारिस्थितिक नारीवाद भी यह स्वीकार करता है कि मातृत्व या स्त्रीत्व के आधार पर निर्मित भूमि सभी को संरक्षण प्रदान करती है, क्योंकि उसके हृदय में सभी के लिए अपार स्नेह होता है। इस प्रकार पूरो का मातृत्व पारंपरिक मातृत्व की सीमाओं को लांघकर सार्वभौमिक मातृत्व का रूप धारण कर

लेता है जहाँ वह प्रत्येक शोषित और असहाय व्यक्ति की संरक्षक बन जाती है। उसके हृदय में अन्य पीड़ितों के प्रति अपार स्नेह है। उसे तारो के प्रति भी विशेष सहानुभूति है। उसका जीवन स्वयं शोषण का प्रतीक होते हुए भी दूसरों के उद्धार में समर्पित रहता है। रशीद जिसने पूरो का अपहरण किया था उसके प्रति अन्याय करने के बावजूद अंततः पूरो के प्रेम और करुणा के प्रभाव से परिवर्तित हो जाता है। वह पूरो के कार्यों में उसका समर्थन करता है और उसकी उदारता से प्रभावित होकर स्वयं को भी मानवीय मूल्यों की ओर उन्मुख करता है। पूरो अपने चारों ओर के समाज को अपने करुणामय मातृत्व से परिवर्तित करने का प्रयास करती है। पूरो का मातृत्व केवल उसके जैविक पुत्र जावेद तक सीमित नहीं रहता है। वह अपने आसपास के प्रत्येक पीड़ित व्यक्ति को अपनी संतान के रूप में देखती है। कम्मो जो अनाथ और बेसहारा है, पूरो की करुणा का केंद्र बनती है। पूरो उसे अपनी बेटी की तरह स्नेह देती है और उसके भरण-पोषण व सुरक्षा की भी चिंता करती है। वह सभी अनाथों की माँ बनना चाहती है। उसके मन में एक विचार आता है, "वह जावेद (अपने पुत्र) की माँ है, वह कम्मो की माँ भी बन जाए, वह सब अनाथों की माँ बन जाए... वह एक अच्छी पुत्री नहीं बन सकी थी, वह एक अच्छी माँ बन जाए..."[10] इस मातृत्व की भावना ही स्त्री को पुरुष से श्रेष्ठ बनाती है। पारिस्थितिक नारीवाद भी इस विचार का समर्थन करता है कि मातृत्व पर आधारित व्यवस्था सभी को सुरक्षा प्रदान कर सकती है क्योंकि इसमें सहानुभूति और करुणा का तत्व प्रमुख होता है।

उपन्यास में एक मानसिक रूप से अस्थिर महिला के गर्भवती होने की घटना गहरी सामाजिक चिंता को उजागर करती है। इस अमानवीय कृत्य से गाँव की स्त्रियाँ अत्यंत आक्रोशित हो जाती हैं और पुरुषों को इस अन्याय के लिए उत्तरदायी ठहराती हैं। पूरो भी इस घटना से मानसिक रूप से विचलित होती है और यह विचार करती है, "वह कैसा पुरुष था, वह अवश्य ही कोई पशु होगा, जिसने इस जैसी पागल की यह दुर्दशा बना दी।"[11] इस घटना के परिणामस्वरूप जब मानसिक रूप से अस्थिर महिला की मृत्यु हो जाती है तब पूरो उसके बच्चे को अपना लेती है और उसका पालन-पोषण करती है। यह उसके चरित्र की करुणा, संवेदनशीलता और मातृत्व गुणों को दर्शाता है, जो उसे समाज में सामंजस्य और शांति बनाए रखने की क्षमता प्रदान करते हैं। यही स्त्री की वह विशेषता है जो पूरे संसार के जीवों को एक सूत्र में बाँधने में सक्षम होती है। पारिस्थितिक नारीवाद इसी स्त्री-गुण का समर्थन करता है। पृथ्वी के सभी जीवों में चेतना को देखना और उन्हें करुणा और स्नेह से व्यवहार कर शोषण से बचाना ही पारिस्थितिक नारीवाद का मूल मंत्र है। पारिस्थितिक नारीवाद संपूर्ण जीव-जगत के प्रति करुणा और सह-अस्तित्व की भावना पर बल देता है।

विभाजन की हिंसा का सबसे निर्मम पक्ष यह था कि इसमें स्त्रियों के शरीर को युद्धभूमि बना दिया गया। स्त्रियों को राजनीतिक एवं धार्मिक प्रतिशोध का माध्यम बनाया गया। "पूरो को लगता मानो इस दुनिया में जीना नहीं हो सकता। इस युग में लड़की का जन्म लेना ही पाप है.."[12] स्त्री की शुचिता, उसका कौमार्य और उसकी देह को परिवार तथा समुदाय के सम्मान से जोड़ दिया गया। पूरो का अपहरण हो या विभाजन के समय हजारों स्त्रियों का बलात्कार एवं हत्या, ये सभी घटनाएँ इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि समाज में स्त्रियों को केवल भोग्या या वस्तु के रूप में देखा जाता रहा है। पूरो समस्त स्त्री जाति के उद्धार को अपने आत्मिक संतोष से जोड़ती है। अपने प्राणों की परवाह किए बिना अपने भाई की पत्नी को खोज निकालती है तथा उसे सुरक्षित उसके गंतव्य तक पहुँचाने में सफल होती है। वह मन ही मन सोचती है कि, "चाहे कोई लड़की हिन्दू हो या मुसलमान, जो लड़की भी लौटकर अपने ठिकाने पहुँचती है, समझो कि उसी के साथ पूरो की आत्मा भी ठिकाने पहुँच गई।"[13] इस प्रकार पूरो स्वयं की मुक्ति को दूसरों की मुक्ति में तलाशती है। पूरो का पति रशीद भी उसके

कार्यों में उसकी सहायता करता है जो यह दर्शाता है कि पारिस्थितिक नारीवाद का उद्देश्य किसी एक को प्रतिष्ठित करना नहीं बल्कि समन्वय स्थापित करना है।

'पारिस्थितिक नारीवाद' पूँजीवाद, युद्ध और अन्य विनाशकारी प्रवृत्तियों का भी विरोध करता है। यह समग्र रूप से सामाजिक न्याय, जैव-विविधता के संरक्षण और गैर-हिंसक सहअस्तित्व की वकालत करता है। विभाजन की त्रासदी ने भौगोलिक सीमाएँ ही नहीं बदलीं अपितु मानवीय संवेदनाओं का भी ह्रास किया। "जिस तरह ख़रबूज़ा फांक-फांक हो जाता है, उसी प्रकार शहरों में, गाँवों में मनुष्यों से मनुष्य कटते जाते थे..." इस दृष्टिकोण से पूरो विभाजन के दौरान हुई हिंसा और अमानवीयता के कारण मनुष्यता पर प्रश्नचिह्न लगाती है और प्रकृति की पुनर्स्थापना की संभावना पर भी विचार करती है। वह प्रश्न उठाती है, "अब इस धरती पर, जो कि मनुष्य के लहू से लथपथ हो गयी थी, पहले की तरह गेहूँ की सुनहरी बालियाँ उत्पन्न होंगी या नहीं.....इस धरती पर जिसके खेतों में मुर्दे पड़े सड़ रहे हैं, अब भी पहले की तरह मकई के भुट्टों में से सुगंध निकलेगी या नहीं...क्या ये स्त्रियाँ इन पुरुषों के लिए अब भी संतान पैदा करेंगी, जिन पुरुषों ने इन स्त्रियों की अपनी बहनों के साथ ऐसा अत्याचार किया था...।"[14] पूरो के मन में उठने वाले ये प्रश्न इस तथ्य को दर्शाते हैं कि जब तक हिंसा, शोषण और विनाश की मानसिकता समाप्त नहीं होती तब तक न समाज और न ही प्रकृति पुनः अपने संतुलन को प्राप्त कर सकती है। अतः पारिस्थितिक नारीवाद की अंतर्निहित अवधारणा केवल स्त्रियों की स्वतंत्रता तक सीमित न होकर संपूर्ण जीव-जगत के सामंजस्य और प्राकृतिक संतुलन को पुनर्स्थापित करने की ओर केंद्रित है। इस विचारधारा के अनुसार समाज को स्त्री-पुरुष के लिंगभेद से ऊपर उठकर संपूर्ण मानवता के कल्याण को प्राथमिकता देनी चाहिए। यह उपन्यास हमें यह सोचने पर मज़बूर करता है कि किसी भी संघर्ष या हिंसा का सबसे बड़ा शिकार वे लोग होते हैं, जिनकी आवाज़ सबसे कम सुनी जाती है- औरतें, बच्चे और कमज़ोर वर्ग। पूरो की कहानी केवल विभाजन की पीड़ा नहीं, बल्कि स्त्री चेतना और अस्तित्व की लड़ाई की भी कथा है। यह उपन्यास रेखांकित करता है कि जब तक समाज स्त्रियों को समानता और स्वतंत्रता नहीं देता तब तक किसी भी राष्ट्र या समाज की वास्तविक प्रगति संभव नहीं हो सकती।

निष्कर्ष:दूसरों की सहायता के लिए अपनी जान जोखिम में डालने की प्रवृत्ति स्त्री-शक्ति की पहचान है, जिसे अमृता प्रीतम ने पूरो के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया है। स्त्री यह नहीं चाहती कि उसे देवी या महान समझा जाए। वह केवल यह चाहती है कि उसे एक मानव की तरह देखा जाए और उसी के अनुसार व्यवहार किया जाए। पारिस्थितिक नारीवाद संपूर्ण विश्व के कल्याण की बात करता है। यह धरती पर शोषित लोगों को उस शोषण से मुक्त करके संतुलित जीवनशैली बनाने पर ज़ोर देता है और इस ज़िम्मेदारी को स्त्री को सौंपता है, क्योंकि स्त्री में मातृत्व की भावना होती है। पूरो का अपने परिवार की स्त्रियों को सुरक्षित स्थान तक पहुँचाने का संकल्प यह सिद्ध करता है कि स्त्री- अस्मिता केवल आत्मरक्षा तक सीमित नहीं है बल्कि वह सामाजिक संरचना को परिवर्तित करने की क्षमता भी रखती है। '*पिंजर*' उपन्यास नारी अस्मिता एवं पारिस्थितिक नारीवाद के समन्वय को दर्शाते हुए एक संतुलित एवं संवेदनशील समाज के निर्माण की दिशा में मार्गदर्शन प्रदान करता है।

संदर्भ:

1. के. वनजा, इको-फेमिनिज़्म, दूसरा संस्करण, प्रकाशन वर्ष-2023, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,पृष्ठ संख्या- 113

2. वही, पृष्ठ संख्या- 14

3. अनामिका, स्त्री विमर्श की उत्तर गाथा, प्रकाशन वर्ष-2012, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या-17

4. अमृता प्रीतम, पिंजर, प्रकाशन वर्ष -2021, हिंद

पॉकेट बुक्स, पृष्ठ संख्या-33
5. के. वनजा, इको-फेमिनिज़्म, दूसरा संस्करण, प्रकाशन वर्ष-2023, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,पृष्ठ संख्या- 14
6. अमृता प्रीतम, पिंजर, प्रकाशन वर्ष -2021, हिंद पॉकेट बुक्स, पृष्ठ संख्या-25
7. प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, प्रकाशन वर्ष-2009, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-39
8. अमृता प्रीतम, पिंजर, प्रकाशन वर्ष -2021, हिंद पॉकेट बुक्स, पृष्ठ संख्या-42
9. वही, पृष्ठ संख्या-44
10.वही, पृष्ठ संख्या-37
11.वही, पृष्ठ संख्या-52
12. वही, पृष्ठ संख्या-83
13. वही, पृष्ठ संख्या-118
14. वही, पृष्ठ संख्या-84

◆शोधार्थी, टांटिया विश्वविद्यालय,
श्रीगंगानगर, राजस्थान
एवं सहायक आचार्य, हिंदी
चौ. बल्लूराम गोदारा राजकीय कन्या महाविद्यालय,
श्रीगंगानगर, राजस्थान।
फोन-8696591510,
ई.मेल: rajvindersgnr1@gmail.com
◆◆ सह आचार्य, हिंदी विभाग
टांटिया विश्वविद्यालय, श्रीगंगानगर, राजस्थान।

दलित स्त्री जीवन का दस्तावेज़ 'जोहड़ी'

◆प्रियंका

सारांश-कौशल पंवार एक दलित महिला लेखिका, आत्मकथाकार, संपादक और सामाजिक कार्यकर्ता हैं। इन्होंने अपने साहित्य में दलित समाज की समस्याओं और दलित स्त्री के प्रश्नों को बहुत ही बेबाकी के साथ रखा है। साथ ही, इनके साहित्य में दलित स्त्रीवाद के स्वर को देखा वा सुना जा सकता है। कौशल पंवार की कहानियाँ ज़मीनी स्तर से जुड़ी कहानियाँ हैं। वे लिखती हैं कि- "मैं जिस तरह के परिवेश में पली बढ़ी हूँ, उसका वातावरण, मेरे अपने समाज में घट रही घटनाओं को मैंने अपनी कहानियों में जगह दी है।" 'जोहड़ी' उनका एक ऐसा कहानी संकलन है जो अनायास ही सहज रूप में दलित स्त्री-विमर्श की राह तैयार करता है।

बीज शब्द- समाज, स्त्री, पितृसत्ता, शोषण, व्यवस्था, भेदभाव, जातिवाद।

मूल आलेख- भारतीय संस्कृति, साहित्य और दर्शन में नारी को दैवीय शक्ति मानकर पूजा गया है। कभी उसे कामिनी, माता, कलना, ललना इत्यादि शब्दों से पुकारा गया तो कभी उसके समस्त मानवी अधिकार छीनकर उसे पैरों की जूती की नोक पर रखकर रौंदा गया। हमारा समाज सदियों से पितृसत्तात्मक समाज का पोषक रहा है। जहाँ सारे निर्णय लेने का अधिकारी पुरुष वर्ग होता है, वहाँ नारी की स्थिति बेहतर नहीं हो सकती। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय संविधान में नारी को समान अधिकार देकर उसकी व्यवहारिक स्थिति में परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया है।

हिंदी साहित्य में मुख्यधारा के स्त्रीवादियों ने जाति और वर्ग के सवालों को अपने विमर्श का केन्द्र नहीं बनाया जबकि दलित स्त्रीवाद ने दलित महिला के शोषण, जुल्म को जातिवाद और पितृसत्ता के बुनियादी सवाल बनाकर साहित्य के समक्ष खड़े किए है। ग़ैर दलित स्त्री और दलित स्त्री के शोषण पर दृष्टि डालें तो दोनों में पर्याप्त अंतर देखने को मिलता है। जहाँ ग़ैर दलित स्त्री समाज में पितृसत्ता और लैंगिक असमानता को सहती है वहीं दलित स्त्री जाति, लिंग

और वर्ग के शोषण को झेलती है। "भारतीय परिवेश में देखें तो दलित स्त्री मात्र स्त्री होने की त्रासदी नहीं सहती, बल्कि उसके दलित जाति से होने के कारण वह लिंग-भेद और जाति-भेद सहते हुए दोहरे-तिहरे आक्रमण झेलती है। एक पुरूष प्रधान समाज होने के कारण वह अपने ही समाज के पुरुषों की दृष्टि में भी दूसरे दर्ज़े की प्राणी मात्र है, जो उनके अनुसार कम बुद्धि की है। इस कारण उसे अपनों से भी उपेक्षा तथा प्रताड़ना मिलती है। दूसरी ओर ग़ैर- दलित समाज उसे दो तरह से कमज़ोर पाता है। एक तो वह स्त्री है, दूसरे वह दलित जाति से होती है।"[1] दलित स्त्री को तमाम मानसिक, शारीरिक और सामाजिक यातनाएँ जाति-भेद के कारण दी जाती हैं जिससे उनका मनोबल गिरता है और मानवीय गरिमापूर्ण अस्मिता आहत होती है।

हिंदी में दलित लेखिकाओं ने अपने लेखन के माध्यम से समाज में फैले जातिवाद, पितृसत्ता के रेशे-रेशे को उखाड़कर रख दिया है। साथ ही, पितृसत्ता और जातिवाद के अलक्षित बिंदुओं की तालाश करते हुए 'उपेक्षितों में उपेक्षित' का सवाल बड़ी ही गंभीरता के साथ कहानी, कविता और उपन्यास में उठाया है। हिंदी में दलित महिला लेखन पर दृष्टि डालें तो मालूम पड़ता है कि सुशीला टाकभौरे, कौशल्या बैंसात्री, कावेरी, अनिता भारती, रजनी तिलक, रजत रानी मीनू, रजनी अनुरागी, रजनी दिसोदिया, पूनम तुषामड, कुसुम मेघवाल और कौशल पंवार इत्यादि लेखिकाओं ने दलित स्त्री-लेखन की ज़मीन तैयार करने में अभूतपूर्व भूमिका निभाई है। प्रस्तुत आलेख 'दलित स्त्री जीवन का दस्तावेज़ जोहड़ी' पर अपनी बात रखने की कोशिश की है। कौशल पंवार एक दलित महिला लेखिका, आत्मकथाकार, संपादक और सामाजिक कार्यकर्ता हैं। इन्होंने अपने साहित्य में दलित समाज की समस्याओं और दलित स्त्री के प्रश्नों को बहुत ही बेबाकी के साथ रखा है। साथ ही, इनके साहित्य मे दलित स्त्रीवाद के स्वर को देखा व सुना जा सकता है। कौशल पंवार की कहानियाँ ज़मीनी स्तर से जुड़ी कहानियाँ हैं। वे लिखती हैं कि- "मैं जिस तरह के परिवेश में पली बढ़ी हूँ, उसका वातावरण, मेरे अपने समाज में घट रही घटनाओं को मैंने अपनी कहानियों में जगह दी है।"[2] 'जोहड़ी' उनका एक ऐसा कहानी संकलन है जो अनायास ही सहज रूप में दलित स्त्री-विमर्श की राह तैयार करता है।

इस कहानी संग्रह में कुल 15 कहानियाँ संकलित हैं जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:- 'दिहाड़ी', 'वर्दी', 'लच्छो', 'जूते', 'जोहड़ी', 'दान', 'तेरे कप की चाय नही', 'क्योंकि वह स्त्री थी', 'रितु', 'स्पीड ब्रेकर', 'उन क्षणों के बाद', 'हार गई ज़िंदगी', 'खोखले रिश्ते', 'प्रतिरोध' एवं 'और पानी भींट गया' है।

भारतीय समाज में दलितों की निम्न स्थिति का सबसे बड़ा कारण है, उनका आर्थिक रूप से विपन्न होना, जो किसी भी समाज की आंतरिक उन्नति के लिए ख़तरनाक साबित होता है, जिससे समाज में अलगाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। भारतीय गाँवों का ढाँचा भूमि संबंधों पर टिका है। वहाँ कृषि-भूमि ही एकमात्र आय का साधन है जिस पर सामंती व्यवस्था का परम्परागत रूप से एकाधिकार स्थापित है। दलित समाज को वहाँ दिहाड़ी मज़दूर के रूप में उन पर आश्रित रहना पड़ता है जिसके कारण तथाकथित समाज उन्हें हिक़ारत भरी निगाह से देखता है। साथ ही दलितों पर जातिगत भेदभाव, छुआ-छूत, शोषण और अत्याचार की सभी हदें पार कर जाते है। कौशल पंवार 'दिहाड़ी' नामक कहानी में जहाँ एक ओर ग्रामीण परिवेश में व्याप्त आर्थिक शोषण और जातिगत असमानता को सामने लाती है वहीं दूसरी ओर दलित स्त्री किस तरह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सामंती व्यवस्था से विद्रोह करती है उसका जीवंत चित्रण प्रस्तुत करती है। कहानी में, तारा वाल्मीकि जाति की उस होनहार और गंभीर स्वभाव की लड़की की कहानी है, जो

अपने पिता के बार-बार मना करने पर भी उनकी टीबी जैसी गंभीर बीमारी का इलाज कराने के लिए कॉलेज छोड़कर मज़दूरी करने जाती है। तारा को वहाँ मज़दूर-मालिक के बीच का अंतर देखने को मिलता है। पिता की अनुपस्थिति में जब तारा दिहाड़ी पर आती है, तो ट्रक ड्राइवर कहता है- "तेरा बाप नी आया, मर मरा गया के जो तेरे तै भेज्या।"[3] निचले तबके से आने वाले गरीब मज़दूरों के प्रति इतनी अपमानजनक एवं असभ्य भाषा को सुनकर वह काँप उठती है। वहीं आगे कहानी में ठेकेदार का बेटा अपने पिता की जगह काम सँभालने आता है। वह तारा को लगातार परेशान करता है। तारा उसकी कुटिल चाल से वाक़िफ़ थी, इसलिए वह उसका विरोध करती है और अपने स्वाभिमान एवं अस्मिता की रक्षा के लिए गर्म रोड पकड़ कर प्रतिरोध दर्ज करती है। इस प्रकार यह कहानी मेहनत-मज़दूरी करने वाली दलित महिला की भयावह स्थिति को प्रस्तुत करती है। साथ ही, यह सवाल उठता है कि हम ने आज़ादी का 75वाँ अमृत महोत्सव मनाया है, लेकिन दलित समुदाय के जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। उन्हें आज भी जाति-वर्ण के नाम पर शोषित किया जा रहा है। यह एक यथार्थपरक कहानी है।

'वर्दी' कहानी शैक्षणिक संस्थानों में व्याप्त जातिभेद की असमानता को रेखांकित करती है जहाँ जातिवादी मानसिकता से ग्रस्त अध्यापक दलित बच्चों को दोयम दर्जे का मानकर उनके साथ भेदभाव करते हैं, जिससे दलित समुदाय में व्यापक शिक्षा का प्रसार न हो सके। प्रस्तुत कहानी में रामसरूप की बेटी का नाम नेहा है। जिस विद्यालय में नेहा पढ़ती है, वहाँ दलित बच्चों की वर्दी नीली और ग़ैर-दलित बच्चों की वर्दी गुलाबी एवं सफेद है। वर्दी का रंग एक समान न होने पर ग़ैर दलित बच्चें नेहा को 'चूहड़े की लड़की' बोलकर मज़ाक़ उड़ाते हैं, जैसे उसका नाम नेहा न होकर चूहड़े की लड़की है। यह जाति सूचक शब्द ही उसकी पहचान है। यहाँ तक कि पीने के पानी को भी हाथ लगाने नहीं देते और कहते हैं- "चूहड़े की होकर ये मजाल कि उनके मटके से उन्हीं हाथों से लेकर पानी पीती हूँ, जिन हाथों से मैं गोबर उठाती हूँ।"[4] इस प्रकार यह कहानी सवाल उठती है कि बाबा साहेब ने 20 मार्च, 1927 को महाड़ सत्याग्रह करके सार्वजनिक कुओं, तालाब से दलितों के पानी पीने का अधिकार दिलाने के लिए सत्याग्रह किया। फिर गाँव-देहातों में दलितों के साथ इतनी अवमानना क्यों? तथाकथित समाज की मानसिक सोच में परिवर्तन कब आएगा। कहानी में आगे नेहा नीली वर्दी पहनने का विरोध करती है। तब जातिवादी मानसिकता से ग्रस्त हैडमास्टर कहता है- "तुम्हारी इतनी हिम्मत कि तुम ये कहो कि स्कूल से जो वर्दी का कपड़ा मिलता है वह अच्छा नहीं है, सफेद या गुलाबी नहीं है। अब तुम मुझे समझाओगी कि अगर सरकार बच्चों को कपड़ा देती है तो उसे सफ़ेद या गुलाबी देना चाहिए ताकि सारे बच्चे एक जैसे दिखें, और तुम सब भी हमारे बच्चो की बराबरी कर सको। एक तो तुम लोगों का स्कूल में नाम दर्ज करवाकर ही हम लोग गलती कर रहे हैं और ऊपर से अब तुम्हारी ज़बान भी चलने लगी है....स्कूल से नाम काटकर घर भेज दूँगा, अगर मुझे तुम्हारी कोई शिकायत दोबारा मिली तो?"[5] यहाँ हेडमास्टर परंपरागत सामंती सोच का प्रतीक बनकर उभरे हैं, जो दलित समुदाय को शिक्षा रूपी हथियार से वंचित करके उन्हें अपना ग़ुलाम बनाना चाहते हैं, कहानी में नेहा के पिता रामसरूप साधन विहिन पिता ज़रूर हैं। लेकिन वे किसी भी क़ीमत पर नेहा की पढ़ाई नहीं छुड़वाना चाहते। इसी कारण वे श्मशान घाट से सफ़ेद कफ़न उठा लाते हैं। इस प्रकार यहाँ लेखिका उस समस्या की ओर ध्यान आकर्षित कराना चाहती हैं कि यदि शैक्षणिक संस्थानों से जातिवाद समाप्त नहीं हुआ तो न जाने कितने दलित होनहार बच्चे शिक्षा से वंचित रह जाएँगे।

'लच्छो' कहानी सवर्ण समाज की असंवेदनशीलता को उजागर करती है। सामंती व्यवस्था दलित समाज के साथ ही उनके पशुओं को भी उपेक्षा की दृष्टि से देखते है। प्रस्तुत कहानी में दलित रामबौत की सुअरी लच्छो जमींदार के पराली में जाकर बच्चों को जन्म देती है। इस पर जमींदार का

व्यवहार इतना क्रूर हो जाता है कि वह उसके बच्चों पर लाठी से प्रहार करते हुए चार बच्चों की निर्मम हत्या कर देता है। इसके बाद रामबौत के घर जाकर जातिसूचक गालियाँ देते हुए कहता है- "साले मादर...ने नाम तो देखो क्या रखा है लच्छो...।"[6] कहानी में आगे रामबौत की बेटी रमा पिता की अनुपस्थिति में स्वंय ही लच्छों को लाने जाती हैं तो रास्ते मे उसके स्कूल का सहपाठी सतवीर देख लेता है, जो डिस्कस थ्रो प्रतियोगिता में रमा का प्रतिद्वंद्वी है। वह रमा के दलित होने के कारण हमेशा उसे अपमानित और तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। यह जानते हुए कि रमा ने उसे डिस्कस थ्रो खेल प्रतियोगिता में हराकर मुँहतोड़ जवाब दिया है। अगली सुबह सतवीर स्कूल में रमा पर जातिगत टिप्पणी करते हुए कहता है- "चूहड़ों ने उनके घर के चूल्हों में गंदगी फैला रखी है। इन्हें तो इनके घरों के सुअरों, भेड़-बकरियों और मुर्ग़ों के साथ-साथ जलाकर ख़त्म कर देना चाहिए जैसे गोहाना में किया गया था।"[7] इस प्रकार यह कहानी सवाल उठती है कि भारतीय समाज में जातिवाद की जड़ें कितनी गहरी हो चुकी हैं कि दलित समाज को पग-पग पर नीचा दिखाने और अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए तथाकथित समाज गुहाना जैसी घटनाएँ करने की बात करता है।

'जोहड़ी' एक दलित युवती की कहानी है, जो अपनी अस्मिता और स्वाभिमान की रक्षा के लिए सामंती व्यवस्था का प्रतिरोध करती है। प्रस्तुत कहानी की मुख्य पात्र बतेरी है, जिसके पूरे गाँव में एक ओर ज़मींदारों का दबदबा और आतंक है, वहीं दूसरी ओर दलित समुदाय का विवश जीवन। गाँव के अधिकांश दलित परिवार ज़मींदार के ईंट भट्ठों और खेतों में मेहनत मज़दूरी करके अपना जीवन व्यतीत करते हैं। गाँव में एक जोहड़ी है। जाति-व्यवस्था के चलते दलित समुदाय का सार्वजनिक जोहड़ी से पानी पीना वर्जित है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् बाबा साहब ने देश को भारतीय संविधान रूपी रोशनी देकर दलित समुदाय को चेतना-सम्पन्न बनाया जिसके फलस्वरूप दलित समुदाय अब सार्वजानिक सम्पत्ति में बराबरी की हिस्सेदारी के लिए संघर्ष करते हैं जिसमें उन्हें सफलता भी मिलती है। इसी कारण बतेरी अपनी सहेलियों के साथ जोहड़ी के पानी का इस्तेमाल करती है। बतेरी के गाँव में बड़े-बड़े ज़मींदारों के यहाँ सन की खेती होती है। जमींदार अपने खेतों का काम दलित पुरूष और महिला दोनों से करवाते हैं और मज़दूरी के लिए महीनों लटका कर रखते है। दलित महिला को मेहनत-मज़दूरी करते समय जमींदार की कुदृष्टि का शिकार होना पड़ता है। एक दिन बतेरी सन साफ़ कर रही थी और ज़मींदार उसे दूर से घूर रहा था। सन साफ़ करते हुए बतेरी के हाथ से एक गट्ठर पानी में गिर जाता है जिसका गंदा पानी ज़मींदार के ऊपर चला जाता है। ज़मींदार ज़ोर से चिल्लाते और गालियाँ देते हुए बतेरी को दबोच लेता है। बतेरी ज़मींदार की इस नीच हरकत का प्रतिरोध करते हुए एक तमाचा जड़ देती है। इस प्रकार यह कहानी दलित स्त्रीवाद के नज़रिए से दलित स्त्री चेतना से लबरेज़ कहानी है, जो जातिवादी वर्चस्व का प्रतिकार और प्रतिरोध करती दिखाई पड़ती हैं।

कौशल पंवार ने 'स्पीड ब्रेकर' कहानी के माध्यम से शहरी परिवेश में उच्च शिक्षित वर्ग की ब्राह्मणवादी मानसिकता को उजागर किया है। प्रस्तुत कहानी में पात्र नीना दिल्ली विश्वविद्यालय जैसे प्रतिष्ठित संस्थान में पढ़ाती है। उसके साथ के सभी सहकर्मी प्रगतिशील विचारधारा के हैं। लेकिन उसी विश्वविद्यालय में साफ-सफ़ाई का काम करने वाली सुनेरी के हाथों से बनी चाय पीने से मना कर देते हैं। कहते हैं- "वो जो हमारे यहाँ सफ़ाई कर्मी है? सबने हाँ में हाँ मिलाया।"8 इस प्रकार यह कहानी सवाल खड़ा करती है कि प्रगतिशील विचारधारा के प्रबल समर्थक भी जाति और छुआ-छूत जैसी विसंगतियों से मुक्त नहीं हुए हैं। लेखिका ने यहाँ सुनेरी के ज़रिये भारतीय समाज मे व्याप्त दलित स्त्री शोषण का बयान किया है। अगली कहानी 'और पानी भींट गया' आत्मकथात्मक शैली में लिखित तथाकथित समाज की तुच्छ मानसिकता को व्यक्त करती है। कहानी में संस्कृत शिक्षिका प्यास लगने पर स्कूल में सफ़ाई कर्मचारी का काम करने वाली महिला की बोतल से पानी पीकर प्यास बुझा लेती है, जिसके बाद सभी सवर्ण छात्र-छात्राओं और स्टाफ़ शिक्षिकाओं में कोहराम मच जाता है कि आख़िर सफ़ाई कर्मचारी और शिक्षिका के बीच कौन-सा रिश्ता है। इस प्रकार कौशल पंवार यहाँ सवाल खड़ा करती हैं कि जब तक भारतीय समाज मनु के वंशज

रहेंगे तब तक देश को एकता के सूत्र में बांधना मुश्किल रहेगा।

अंतत: हम कह सकते हैं कि कौशल पंवार की कहानियाँ शिल्प की दृष्टि से कच्चापन और रचनात्मकता का अभाव बेशक रखती हों, किंतु विषय-वस्तु की दृष्टि से उनमें दलित स्त्रीवाद का स्वर मुखर रूप से सुनाई देता है। इनकी कहानियों में दलित स्त्री सामंतवादी व्यवस्था के आगे झुकती नहीं, अपितु शोषण के विरुद्ध डटकर प्रतिकार करती दिखाई देती है। चाहे वह तारा हो या नेहा, फिर चाहे रमा हो बतेरी, सभी ब्राह्मणवादी समाज की मानसिकता को उजागर करती हैं।

संदर्भ:

1. संपा. डॉ. श्यौराज सिंह बैचेन- सामाजिक न्याय और दलित साहित्य, हिंदी दलित कथा साहित्य में स्त्री(लेख)- डॉ. रजत रानी मीनू, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2014, आवृत्ति-2018, पृ. 135
2. कौशल पंवार- जोहड़ी (कहानी संग्रह), राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली, पहला संस्करण-2017, पहली आवृत्ति- 2021, भूमिका
3. वही, पृ .4
4. वही, पृ .15
5. वही, पृ .16
6. वही, पृ .23
7. वही, पृ.28
8. वही, पृ .75

सहायक ग्रंथ:-

1. सुरेश कुमार- दलित कहानियाँ और जातिवाद के बीहड़ इलाक़े (संदर्भ- कौशल पंवार), आलेख, फ़ॉरवर्ड प्रेस।

◆शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
फोन- 8595419413
ई.मेल- priyankahas900@gmail.com
फोन-8595419413

Form IV

Statement about ownership and other particulars about 'Shodh Sarovar Patrika' to be published in the first issue every year after the last day of February.

1. Place of Publication : Thiruvananthapuram Kerala
2. Periodicity of Publication : Quarterly
3. Printer's name : Dr .P.Letha
   Nationality : Indian
   Address : 'Arathi', TC 14/1592,
   Forest office lane, E-28, Vazhuthacaud,
   Thiruvananthapuram Kerala PIN- 695014.
4. Publisher's name:Dr .P.Letha
   Nationality : Indian
   Address : 'Arathi', TC 14/1592,
   Forest office lane, E-28, Vazhuthacaud,
   Thiruvananthapuram Kerala PIN- 695014.
5. Editor's name: Dr .P.Letha
   Nationality : Indian
   Address : 'Arathi', TC 14/1592,
   Forest office lane, E-28, Vazhuthacaud,
   Thiruvananthapuram Kerala PIN- 695014.
6. Name and addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one percent of the total capital-
   Name : Dr .P.Letha
   Nationality : Indian
   Address : 'Arathi', TC 14/1592,
   Forest office lane, E-28, Vazhuthacaud,
   Thiruvananthapuram Kerala PIN- 695014.

I, Dr.P.Letha hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Date :25/03/2026 sd/-
Dr.P.Letha

राज्य राजभाषा के रूप में हिन्दी

◆डॉ. प्रदीप कुमार पाण्डेय

प्रस्तावना - विविधता में एकता के संकल्पों पर आधारित भारतीय संस्कृति का पूर्ण समावेश भारत के विधिक, सांविधिक और संवैधानिक व्यवस्था में करते हुए एक सशक्त और प्रभावी परिसंघ की स्थापना की गयी है जिसमें केन्द्र और राज्य स्तर पर भारतीय संविधान में स्पष्टरूपेण प्रावधानित उपबन्धों के अनुसार सरकारें स्थापित की गयी हैं। इन दोनों स्तरों की सरकारों के लिए कहीं क्षेत्राधिकार सम्बन्धी समस्या न हो जाए, भारतीय संविधान में इसके लिए पूर्ण और स्पष्ट उपबंध किये गये हैं। केन्द्र और राज्य सरकारों को अपने क्षेत्राधिकार में रहते हुए कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी गयी है। एक परिसंघीय संविधान एवं व्यवस्था के अनुरूप, अन्य प्रावधानों के साथ साथ, राज्य सरकारों को अपने राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा को निर्धारित करने का अधिकार दिया गया है जैसा कि संघ सरकार को भारतीय संविधान में राजभाषा के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता प्रदान की गयी है।

राज्य राजभाषा -

राजभाषा का उद्देश्य सम्बन्धित सरकार द्वारा अपने राजकीय प्रयोजनार्थ कार्य करने में सम्बन्धित भाषा का प्रयोग करना है। जैसे भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 में संघ की राजभाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता दी गयी है, ठीक उसी प्रकार राज्यों में राजभाषा के लिए भारतीय संविधान दो मार्ग प्रशस्त करता है-

(ए) राज्य के विधानमंडल द्वारा विधि बनाकर और

(बी) भारत के राष्ट्रपति द्वारा निर्देश ज़ारी कर।

उपरोक्त दोनों मार्ग विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। अनुच्छेद 345 में राज्य विधान मण्डलों को उस राज्य में प्रयोग की जाने वाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक भाषाओं को या हिन्दी को उस राज्य के सभी या किन्हीं शासकीय उद्देश्यों के लिए अंगीकार करने हेतु अधिकृत किया गया है। साथ ही अनुच्छेद 347 में भारत के राष्ट्रपति को भी इस सम्बन्ध में अधिकारिता प्राप्त है। अतएव, अनुच्छेद 345 एवं अनुच्छेद 347 का अवलोकन समीचीन है जो निम्नवत् है-

"345. *राज्य की राजभाषा या राजभाषाएं*-. अनुच्छेद 346 और अनुच्छेद 347 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, किसी राज्य का विधान-मंडल, विधि द्वारा, उस राज्य में प्रयोग होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक भाषाओं को या हिंदी को उस राज्य के सभी या किन्हीं शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा या भाषाओं के रूप में अंगीकार कर सकेगाः

परंतु जब तक राज्य का विधान-मंडल, विधि द्वारा, अन्यथा उपबंध न करे तब तक राज्य के भीतर उन शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए उसका इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था।"

अतः यह स्पष्ट है कि हर एक राज्य के विधानमण्डल को राजभाषा निर्धारित करने हेतु विधि बनाने की आवश्यकता है और जैसा कि उपरोक्त परंतुक में प्रावधानित है जब तक सम्बन्धित राज्य विधान मंडल इस सम्बन्ध में विधायन नहीं करता है उन शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेज़ी ही राजभाषा रहेगी जिनके लिए संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जब राज्य विधानमंडल द्वारा राज्य की राजभाषा विधायन द्वारा नियत कर ली जाती है तो उपरोक्त परंतुक अप्रयोज्य हो जाता है।

"347. *किसी राज्य की जनसंख्या के किसी भाग द्वारा बोली जाने वाली भाषा के संबंध में विशेष उपबंध*-. यदि इस निमित्त मांग किए जाने पर राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि किसी राज्य की जनसंख्या का पर्याप्त भाग यह चाहता है कि उसके द्वारा बोली

जाने वाली भाषा को राज्य द्वारा मान्यता दी जाए तो वह निदेश दे सकेगा कि ऐसी भाषा को भी उस राज्य में सर्वत्र या उसके किसी भाग में ऐसे प्रयोजन के लिए, जो वह विनिर्दिष्ट करे, शासकीय मान्यता दी जाए।"

अतः यह स्पष्ट है कि यदि किसी राज्य की जनसंख्या का पर्याप्त भाग यह चाहता है कि उसके द्वारा बोली जाने वाली भाषा को राज्य द्वारा मान्यता दी जाए और इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति से माँग की जाती है तो वह भी अनुच्छेद 347 के तहत उस भाषा को शासकीय मान्यता देने हेतु निदेश दे सकता है।

राज्य विधायन (अनुच्छेद 345) बनाम राष्ट्रपति का निर्देश (अनुच्छेद 347) -

किसी भाषा को एक राज्य की राजभाषा के रूप में मान्यता देने की शक्ति भारतीय संविधान के अनुच्छेद 345 और अनुच्छेद 347 दोनों में प्रावधानित है। अनुच्छेद 345 राज्य विधानमंडल की शक्ति से संबंधित है, जबकि अनुच्छेद 347 राष्ट्रपति की शक्ति को संदर्भित करता है और ये दोनों अनुच्छेद किसी भाषा को आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता देने के लिए विधि बनाने या निर्देश ज़ारी करने के लिए अलग-अलग प्रक्रिया निर्धारित करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह सामान्य प्रश्न उठता है कि इन दोनों अनुच्छेदों के प्रावधानों में क्या अन्तर है? और क्या ये प्रावधान एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं या पूरक हैं या क्या इन दोनों में कोई एक दूसरे पर अभिभावी है?

अनुच्छेद 345 के तहत राज्य विधानमंडल को अपनी शक्तियों का प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी या किसी अन्य भाषा, जो उस राज्य में प्रयोग की जा रही हो, को राजभाषा के रूप में अंगीकृत कर सकता है। हिन्दी को राज्य राजभाषा के रूप में सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपनाया जा सकता है और इसके लिए यह कदापि आवश्यक नहीं है कि हिन्दी भाषा उस राज्य में प्रयोग की जा रही हो। दरअसल इसका स्पष्ट कारण भाषाई मुद्दे पर संवैधानिक समझौता और सम्पूर्ण भारतवर्ष में हिंदी के प्रसार को सुगम बनाने के लिए संवैधानिक प्रावधानों में पाया जा सकता है।

लेकिन यदि किसी राज्य विधानमंडल को हिन्दी के अलावा कोई अन्य भाषा राजभाषा के रूप में अंगीकार करना है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह भाषा उस राज्य में प्रयोग की जा रही हो अन्यथा उस भाषा को राजभाषा के रूप में अंगीकार नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 345 के तहत जब राज्य विधानमंडल अपनी शक्ति का प्रयोग करता है तो उसे इस मानदंड को पूरा करना पड़ेगा। ऐसा विचार उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णीत मामला *उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य*, से भी स्पष्ट है।

अनुच्छेद 347 के तहत राष्ट्रपति किसी राज्य की जनसँख्या के पर्याप्त भाग द्वारा बोली जाने वाली भाषा को राज्य के राजभाषा के रूप में मान्यता देने का निर्देश दे सकता है अगर इस सम्बन्ध में माँग की जाती है और इस सम्बन्ध में उनका समाधान हो जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 345 और अनुच्छेद 347 में प्रावधानित उपबंध एक दूसरे से स्वतंत्र हैं और कोई एक प्रावधान दूसरे पर अभिभावी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं।

भारत में राज्य राजभाषा -

उपरोक्त संवैधानिक प्रावधानों के अंतर्गत राज्य विधानमण्डलों ने विधायन कर अपनी राजभाषा का निर्धारण किया है। भारत में हिन्दी को राज्य राजभाषा का दर्जा बिहार, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड राज्यों एवं जम्मू और कश्मीर संघ राज्य क्षेत्र में प्राप्त है जिसका विस्तृत विवरण निम्नवत् है-

1. **बिहार** - बिहार में राजकीय उद्देश्यों के लिए देवनागरी लिपि में हिन्दी का प्रयोग (बिहार राजभाषा अधिनियम, 1950 की धारा 2) करने का प्रावधान है।

2. **छत्तीसगढ़** - छत्तीसगढ़ में राज्य के सभी राजकीय

प्रयोजनों के लिए देवनागरी लिपि में हिन्दी और छत्तीसगढ़ी का प्रयोग (छत्तीसगढ़ राजभाषा (संशोधन) अधिनियम, 2007 की धारा 3) प्राधिकृत किया गया है।

3. झारखण्ड - हिन्दी को राजभाषा के रूप में मान्यता दी गयी है।

4. गुजरात - देवनागरी लिपि में हिन्दी के साथ गुजराती को राजभाषा के रूप में (गुजरात राजभाषा अधिनियम, 1960 की धारा 2) मान्यता दी गयी है।

5. हरियाणा - राज्य की राजभाषा के रूप में देवनागरी लिपि में हिन्दी (हरियाणा राजभाषा अधिनियम, 1969 की धारा 3) को मान्यता दी गयी है।

6. हिमाचल प्रदेश - देवनागरी लिपि में हिन्दी को (हिमाचल प्रदेश राजभाषा अधिनियम, 1975 की धारा 3) राजभाषा के रूप में मान्यता दी गयी है।

7. जम्मू और कश्मीर - जम्मू और कश्मीर संघ राज्य क्षेत्र में अन्य भाषाओं के साथ हिन्दी को भी राजभाषा के रूप में मान्यता (जम्मू और कश्मीर राजभाषा अधिनियम, 2020 की धारा 3) प्राप्त है।

8. मध्य प्रदेश - मध्य प्रदेश में राज्य के सभी राजकीय प्रयोजनों के लिए देवनागरी लिपि में हिन्दी का प्रयोग (मध्य प्रदेश राजभाषा अधिनियम, 1957 की धारा 3) अनुमत किया गया है।

9. राजस्थान - राजस्थान में देवनागरी लिपि में हिंदी का प्रयोग (राजस्थान राजभाषा अधिनियम, 1956 की धारा 3) राज्य की राजभाषा के रूप में मान्यता प्राप्त है।

10. उत्तर प्रदेश - उत्तर प्रदेश राज्य के सभी राजकीय प्रयोजनों के लिए देवनागरी लिपि में हिन्दी का प्रयोग (उत्तर प्रदेश राजभाषा अधिनियम, 1951 की धारा 2) प्रावधानित किया गया है।

11. उत्तराखण्ड - राज्य के किसी या सभी प्रयोजनों के लिए देवनागरी लिपि में हिन्दी का उपयोग (उत्तराखंड राजभाषा अधिनियम, 2009 की धारा 2) राजभाषा के रूप में प्राधिकृत किया गया है।

यह भी उल्लेखनीय है कि एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच या किसी राज्य और संघ के बीच पत्रादि की राजभाषा वही होगी जो संघ में शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने के लिए तत्समय प्राधिकृत है। (अनुच्छेद 346)। उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों में राज्य की राजभाषा या हिन्दी का प्रयोग अनुच्छेद 348 (2) के तहत राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से प्राधिकृत कर सकता है।

राज्य राजभाषा - एक या एक से अधिक

जैसा कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 345 में प्रावधानित है राज्य विधानमण्डलों को अधिकृत किया गया है कि वे उस राज्य में प्रयोग होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक भाषाओं को या हिंदी को उस राज्य के सभी या किन्हीं शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा या भाषाओं के रूप में अंगीकार कर सकेगा। इस प्रावधान के तहत जब उत्तर प्रदेश राज्य विधानमंडल ने उर्दू को द्वितीय राज्य राजभाषा या सह राजभाषा के रूप में मान्यता दी तो *उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य*, में यह प्रश्न उठा कि अनुच्छेद 345 में जब कोई राज्य एक भाषा को राज्य राजभाषा के रूप में मान्यता दे चुका है तो वहाँ पर दूसरी भाषा को अनुच्छेद 345 में अंगीकार करने का विकल्प समाप्त हो जाता है। इस तर्क को उच्चतम न्यायालय ने इन्कार करते हुए धारित किया कि "हमारे विचार में अनुच्छेद 345 में कुछ भी ऐसा नहीं है जो हिंदी के अलावा राज्य में उपयोग की जाने वाली एक या अधिक भाषाओं को दूसरी आधिकारिक भाषा घोषित करने से रोकता है। यह केवल अनुच्छेद 345 में निहित प्रावधान को विकृत करने की कीमत पर हो सकता है। इसका मतलब यह नहीं निकाला जा सकता है कि किसी राज्य विधानमंडल को राज्य के भीतर अन्य भाषाओं को बढ़ावा देने की अपनी शक्ति का त्याग कर देना चाहिए।" न्यायालय ने अनुच्छेद 345 के तहत राज्य विधानमंडल की शक्तियों का उल्लेख करते हुए

कहा कि 'हमें ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है कि राज्य विधानमंडल द्वारा शक्ति का प्रयोग केवल एक बार किया जा सकता है और यदि वह विधानमंडल हिंदी को राज्य की राजभाषा के रूप में अपनाता है तो वह शक्ति समाप्त हो जाती है। राज्य विधानमंडल निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए समय-समय पर अनुच्छेद 345 के तहत अपने विवेक का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र है।'

उपरोक्त मामले ने स्पष्ट कर दिया कि किसी भी राज्य में एक से अधिक राज्य राजभाषा हो सकती है। बहुत सारे राज्यों ने एक से अधिक राजभाषा को अंगीकार करते हुए मान्यता प्रदान किया है।

निष्कर्ष -भारत का हर एक नागरिक सर्वप्रथम केवल भारतीय है और उसके लिए क्षेत्र और अन्य विचार गौण एवं अप्रासंगिक होने चाहिए क्योंकि हम तभी तक भारतीय हैं जब तक हमारा देश, हमारी संस्कृति और हमारी सभ्यता अक्षुण्ण हैं। स्वतंत्रता आन्दोलन में हिन्दी ही एक आम भाषा के रूप में सम्पूर्ण देश के स्वतंत्रता सेनानियों एवं नागरिकों को एकता के एक धागे में पिरोकर विदेशियों के चंगुल से देश को मुक्त कराने में अहम भूमिका निभायी। यही नहीं, राष्ट्रीय एकता और अखंडता स्थापित करने में हिन्दी भाषा का अमूल्य योगदान है। जैसा कि कर्नाटक उच्च न्यायालय ने *महासचिव, भाषाई अल्पसंख्यक संरक्षण समिति बनाम कर्नाटक राज्य* के मामले में कहा कि "यह सच और स्वाभाविक है कि इस देश में एक भाषा बोलने वाले हर तबके का अपनी भाषा से गहरा भावनात्मक लगाव है। लेकिन साथ ही, हम एक राष्ट्र हैं। केवल एक राष्ट्रीय मुख्यधारा है। हम सब एक ही मिट्टी की सन्तानें हैं। हमारे पास प्यार करने के लिए एक समान देश और लोग हैं; फहराने, सम्मान और रक्षा करने के लिए एक समान राष्ट्रीय ध्वज; गाने के लिए एक समान राष्ट्रगान और पालन करने के लिए एक समान संविधान है।"

एक बात यह भी महत्वपूर्ण है कि हिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी के अलावा कोई अन्य भाषा राज्य राजभाषा के रूप में अंगीकृत करना हिन्दी को कमज़ोर बनाने का प्रयत्न है और ऐसी प्रवृत्ति पर तुरन्त अंकुश लगाया जाना चाहिए। साथ ही गैर-हिन्दी राज्यों में, जहाँ हिन्दी का सामान्यतः प्रयोग न हो रहा हो वहाँ हिन्दी भाषा को आवश्यक रूप से राज्य सह-राजभाषा के रूप में अंगीकार कर हिन्दी को उसका सम्मानजनक हक दिलाया जा सकता है और भारतीय संविधान निर्माताओं को सच्ची श्रद्धांजलि। मात्र यही नहीं, ऐसा करने से बंधुत्व और भ्रातृत्व की भावना सशक्त होगी और भारतवर्ष के सभी नागरिकों को अपनी जिज्ञासाएँ, भावनाएँ एवं संवेदनाएँ अभिव्यक्त करने का एक समान संपर्क भाषा मिल सकेगी। जैसा कि माननीय न्यायमूर्ति डी.पी. मदन ने *जी.के. दुदानी बनाम एस.डी. शर्मा* में कहा कि "अब समय आ गया है कि हम उस भाषा के पर्दे को हटा दें जो पूरे भारत में आड़े-तिरछे उतर आया है ताकि एक भारतीय दूसरे भारतीय को समझ सके।... आइए हम एक समान भाषा रखें, चाहे वह कुछ भी हो। हमें अपनी मातृभाषा पर गर्व हो सकता है। हम जिस इलाके, कस्बे या क्षेत्र से आते हैं, उस पर हमें गर्व हो सकता है। लेकिन हम अन्य गर्व से ऊपर उठकर भारतीय होने पर गर्व करें।"

सन्दर्भ ग्रन्थ -

1.महासचिव, भाषाई अल्पसंख्यक संरक्षण समिति बनाम कर्नाटक राज्य, ए आई आर 1989 कर्नाटक 226

2.उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, सिविल अपील संख्या 459/1997 4 सितम्बर, 2014 (उच्चतम न्यायालय)

3.जी.के. दुदानी बनाम एस.डी. शर्मा, 1986 एस सी आर (2) 250

◆एसोसिएट प्रोफेसर, विधि विभाग,
ब्रह्मानंद पी. जी. कॉलेज, कानपुर-208004
ई मेल: bipin05bhu@gmail.com

मुद्रक तथा प्रकाशक: डॉ.पी.लता, आरती, टी.सी. 14/1592, फोरस्ट ऑफिस लेन, वषुतक्काटु, तिरुवनन्तपुरम -14 द्वारा संपादित तथा प्रकाशित; अबी प्रकाशन एन्ड प्री-प्रेस, करुमम्, तिरुवनन्तपुरम -2 में मुद्रित ।
Printed & Published by Dr.P.Letha, Arathi, T.C. 14/1592, Forest Office Lane, Vazhuthacaud, Thiruvananthapuram -14,
Printed at Abi Design & Pre-Press, Karumom, Thiruvananthapuram -2 & Edited by Dr. P. Letha